



**सांख्य दर्शन में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का  
आलोचनात्मक अध्ययन**

**(Sankhya Darshan Mein Jagat Ki Srishti Prakriya  
Ka Alochnatmaka Adhyayana)**

**ABSTRACT**

**THESIS**

SUBMITTED FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF

**Doctor of Philosophy**

IN

**SANSKRIT**

BY

**BHAGWAN DAYAL YADAV**

UNDER THE SUPERVISION OF

**DR. MOHD. SHARIF**

Ph.D., D.Litt.

Senior Lecturer

DEPARTMENT OF SANSKRIT  
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY  
ALIGARH (INDIA)

**2003**

## शोध—प्रबन्ध सार

भारतवर्ष की उदार प्रकृति में पले वैदिक दार्शनिकों की दृष्टि जीवन और जगत् के प्रति बहुत सहज तथा परिपक्व है। जगत् की सृष्टि को समझने के लिए वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक प्रयास किये गये हैं। भारतीय दर्शनो में, सांख्य में जगत् की सृष्टि का दार्शनिक स्वरूप सबसे महत्त्वपूर्ण है। सांख्य दर्शन वेद पर आधारित है। अतः यह अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इस दर्शन के प्रवर्तक विष्णुवतार कपिल हैं।

जगत् की सृष्टि का सम्यक् विवेचन ही सांख्य दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। इस विषय में सांख्य ने एक नवीन विचारधारा प्रस्तुत की, जिसमें ईश्वर का स्थान नगण्य है तथा सृष्टि के उद्भव में पुरुष और प्रकृति इन दो तत्त्वों को हेतु माना गया है। परस्पर ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी इनमें संसर्ग जैसी स्थिति उत्पन्न होती है और सृष्टि प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, जिसे विकास कहा गया है। प्रकृति से जगत् का नया आरम्भ नहीं होता, अपितु जगत् प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है, जगत् के रूप में सारा कार्यजाल प्रकृति के रूप में सूक्ष्मावस्था में पहले ही वर्तमान रहता है। प्रलय के समय विपरीत क्रम में कार्य अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, और दोनों में स्वरूपतः कोई भेद नहीं रह जाता। जगत् की सृष्टि में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह नित्य और निरपेक्ष है। प्रकृति के तीन गुण—सत्त्व, रजस् तथा तमस्, के कारण ही सुख-दुःख तथा उदासीनता की अनुभूतियाँ होती हैं। स्वरूपतः पुरुष इससे बिल्कुल भिन्न है। हमारा औपचारिक सम्बन्ध ही बन्धन है, जिसके लिए विवेक की दृष्टि ही मुक्ति का साधन है। तीनों गुण नित्य परिणामी हैं— साम्यावस्था (प्रकृति के मूल रूप) में विषम परिणाम होता है, जिससे सृष्टि का विकास चलता रहता है।

सृष्टि में समष्टि तथा व्यष्टि के विकास का इतिहास एक-दूसरे से जुड़ा है। जिसका पार्थक्य सूक्ष्म शरीरों से हो जाता है। त्रिगुणों का साम्राज्य जगत् से लेकर प्रकृति तक है। सत्कार्यवाद वस्तुतः जगत् में ऊर्जा के संरक्षण का नियम है तथा प्रकृति के तीनों गुण ऊर्जा के विविध स्वरूपों तथा नियमों को प्रदर्शित करते हैं जिनका विषयगत रूप उनकी बुद्धि सापेक्षता दिखाता है। सांख्य में सारा विकास बुद्धि (महत्) से माना जाने पर भी वास्तविक माना जाता है। संभवतः इसीलिए ही प्रकृति की सत्ता वास्तविक है। सांख्य सिद्धान्त के रूप में परिणामवाद का पोषक है। इसीलिए जगत् की सृष्टि और विकास का प्रयोजन पुरुष का भोग ही नहीं, अपितु उसका अपवर्ग (मोक्ष) भी है। सांख्य दर्शन में प्रतिपादित सृष्टि प्रक्रिया को प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना परमावश्यक है।

इस उद्देश्य के निमित्त प्रस्तुत शोध प्रबन्ध – “सांख्य दर्शन में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का आलोचनात्मक अध्ययन” को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय – “सांख्य दर्शन का स्वरूप” के अन्तर्गत वेदों से लेकर पुराणों आदि में सांख्य दर्शन के बीज उपस्थित होने के प्रमाणों को परिलक्षित किया गया है तथा सांख्य प्रवर्तक महर्षि कपिल व उनके शिष्यों की कृतियों में सांख्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है। सांख्य दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के लिए अध्याय को छ. खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत सांख्य दर्शन का उद्भव किस प्रकार हुआ, इसको बतलाया गया है। भारतीय दर्शन में सांख्य को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। इसका उल्लेख वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत, पुराण आदि में मिलता है। गीता में भी अनेक स्थलों पर सांख्य शब्द का उल्लेख हुआ है। जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। सांख्य की विचारधारा का मूल ऋग्वेद में भी मिलता है तथा ऋग्वेद में सांख्य

सदृश एक दर्शन का प्रणेता कपिल को माना गया है। प्राचीन उपनिषदों में इस दर्शन के बीज मिलते हैं। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में साख्य दर्शन के विचार यत्र-तत्र मिलते हैं। वेदों और उपनिषदों के साथ-साथ साख्य के द्वितत्त्ववाद का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। महाभारत के अनेक स्थलों में सवाद के रूप में साख्य के तत्त्वों व साख्य शब्द का उल्लेख हुआ है। जिससे साख्य दर्शन की प्राचीनता सिद्ध होती है। पुराणों में भी पुरुष और प्रकृति की चर्चा की गयी है, किन्तु पुराणों में वर्णित साख्य ईश्वरवादी है। पुराणों के अतिरिक्त स्मृतियों में भी साख्य के तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। इसी खण्ड में साख्य की प्राचीनता को आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचित किया गया है। द्वितीय खण्ड में साख्य प्रणेता कपिल के विषय में बृहद् प्रकाश डाला गया है। साख्यशास्त्र का प्रणयन कपिल नामक विद्वान् ने किया था। किन्तु कपिल कौन थे? इनके विषय में विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। कपिल का नामोल्लेख श्रुति, रामायण, महाभारत, गीता पुराण आदि में हुआ है। कपिल के जन्मस्थान व समय के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित नहीं है। कपिल की कृति के विषय में भी मतभेद है। प्रायः सभी विद्वान् षष्टितन्त्र को उनकी रचना मानते हैं। वर्तमान में उपलब्ध साख्यसूत्र को षष्टितन्त्र का मूल माना जाता है। तृतीय खण्ड में शिष्य परम्परा और साहित्य के विषय में विवेचन किया गया है। आसुरि कपिल के शिष्य थे। तत्पश्चात् क्रमशः पचशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य, ईश्वरकृष्ण आदि आचार्य शिष्य परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कपिल मुनि के सिद्धान्त को समर्पित भाव से आगे बढ़ाया एवं सृष्टि प्रक्रिया सम्बन्धी उनके विचारों को प्रतिष्ठापित किया। चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत साख्यकारिका पर टीकाओं का वर्णन किया गया है। साख्य का मूलग्रन्थ साख्यप्रवचनसूत्र माना जाता है, किन्तु कालान्तर में ईश्वरकृष्ण विरचित



सांख्यकारिका अत्यन्त प्रसिद्ध हुई तथा सांख्यकारिका पर ही सर्वाधिक टीकाएँ लिखी गयी हैं। जिनमें सुवर्णसप्तति, माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य आदि महत्त्वपूर्ण हैं। पचम खण्ड के अन्तर्गत सांख्य दर्शन के तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय – “प्रकृति का स्वरूप” के अन्तर्गत सृष्टि प्रक्रिया के उपादान कारण व प्रधान तत्त्व प्रकृति के स्वरूप की विशद विवेचना की गयी है। इस अध्याय को नौ खण्डों में विभाजित किया गया है। जगत् के उपादान कारण के सम्बन्ध में अनेक मत उपस्थित किये जाते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार इस त्रिगुणात्मक जगत् का कारण कोई एक सत् तत्त्व है और वह है प्रकृति। इसे ही अव्यक्त भी कहा गया है। यही सृष्टि का मूल तत्त्व है। इसी से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत सत्कार्यवाद की विवेचना की गयी है। सांख्य में प्रकृति के अस्तित्व को दृढता पूर्वक स्वीकार किया गया है। इस प्रसंग में ही सत्कार्यवाद का विवेचन अत्यावश्यक हो जाता है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् है। यदि कार्य असत् हो तो प्रयत्न करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। सत्कार्यवाद की सिद्धि हेतु पाँच युक्तियाँ दी गयी हैं। (1) असत् किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता। (2) कार्य उपादान का ग्रहण करके ही उत्पन्न होता है। (3) सभी कारण से सभी कार्य उत्पन्न नहीं होते। (4) समर्थ कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है। (5) कारण के अनुरूप ही कार्य का अभाव होता है। इस प्रकार सांख्य मत के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् होता है। अतः सांख्य सत्कार्यवाद द्वारा असत्कार्यवादियों के मत का खण्डन करता है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत सत्कार्यवाद के दो रूपों – परिणामवाद एवं विवर्तवाद, को बताया गया है। परिणामवाद के अनुसार कार्य कारण का परिणाम है। वास्तविक रूपान्तरण, तात्त्विक परिवर्तन है। जिस प्रकार दूध में दही अव्यक्त रूप में वर्तमान होता है। उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत्

प्रकृति मे ही निहित होता है और प्रकृति ही वस्तुतः जगत् के रूप मे परिवर्तित होती है। तृतीय खण्ड के अन्तर्गत सांख्यशास्त्र के प्रधान तत्त्व प्रकृति को विभिन्न सजाओ द्वारा अभिहित किया गया है। चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत प्रकृति की सत्ता सिद्ध की गयी है। जिस प्रकृति की रट सांख्य बार-बार लगाता है क्या वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है? इसी प्रश्न पर यहाँ विचार किया गया है। वह प्रकृति अव्यक्त है तो वह किस प्रकार दिखाई देगी इसका समाधान सांख्य मे यह दिया गया कि प्रकृति के कार्यों से ही उसकी सत्ता का अनुमान हो जाता है। इसी खण्ड मे प्रकृति एवं उसके कार्यों मे भेद व उनमे समानता भी दिखलाई गयी है। पंचम खण्ड मे प्रकृति के सत् होने और उसके भावरूप को बतलाया गया है। षष्ठ खण्ड के अन्तर्गत सांख्य मत मे असत् के स्वरूप को कहा गया है। सांख्य शास्त्रीय ग्रन्थो मे यदा-कदा प्रकृति को असत् कहा गया है, जो वस्तु वस्तुतः नहीं है। प्रकृति का यह असत् रूप जो कहा गया है वह विकार रूप ही है कारण रूप नहीं। सप्तम खण्ड मे प्रकृति के अनादि रूप को बताया गया है। शका उपस्थित की जाती है कि सृष्टि का आरम्भ कबसे हुआ? क्या प्रकृति का कोई निश्चित समय है? इन प्रश्नो का समाधान यह है कि सृष्टि प्रवाह अनादि है। अष्टम खण्ड मे प्रकृति का कर्तृत्व के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त किया गया है। जगत् का कर्तृत्व प्रकृति मे ही है। चतन पुरुष उसका भोक्ता मात्र है। पुरुष, प्रकृति के कार्य बुद्धि द्वारा प्रतिबिम्बित होकर स्वयं को कर्ता मानने लगता है जबकि प्रकृति मे ही क्रिया का आश्रय विद्यमान है। नवम खण्ड मे प्रकृति के एकत्व व अनेकत्व के विषय मे विवेचन किया गया है। त्रिगुण युक्त प्रकृति किस प्रकार एक हो सकती है? इसका समाधान यह बताया गया कि वस्तुतः त्रिगुण समष्टि ही प्रकृति है। प्रकृति के ये तीनो गुण मिथुनी भाव मे रहते हैं तथा प्रकृति का एकत्व प्रायः सिद्ध है।

तृतीय अध्याय – “प्रकृति के त्रिगुण” में गुणों का विशद विवेचन किया गया है। प्रकृति एवं गुणों में विभेद नहीं किया जा सकता। किन्तु गुणों की सृष्टि प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका होने से इन्हें अलग अध्याय में स्थान दिया गया है। अध्याय को चार खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में गुणों के स्वरूप पर विचार किया गया है। गुण तीन हैं— सत्त्व, रजस व तमस्। सत्त्व गुण हल्का व प्रकाशक है, रजोगुण क्रियाशील तथा प्रेरक का कार्य करता है। तमो गुण भारी और फलतः नियामक या अवरोधक है। ये तीनों गुण अलग-अलग होते हुए भी सृष्टि प्रक्रिया में सम्मिलित होकर कार्य करते हैं। तीनों गुणों की वैषम्यावस्था में ही सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है। द्वितीय खण्ड में प्रकृति के इन गुणों का आधुनिक विज्ञान के तत्त्वों से समानता दिखलाई गयी है। प्रकृति के त्रिगुणों को हम न्यूटन के तीन गति नियमों में भी देख सकते हैं। गणित के गति विज्ञान में इन्हें ही जडत्व, त्वरण तथा प्रतिक्रिया कहा गया है। वस्तुतः प्रकृति के गुणों का इन आधुनिक विज्ञान के तत्त्वों से समानता दिखलाना पूरी तरह से तर्क सगत नहीं है। तृतीय खण्ड के अन्तर्गत गुणों के परिणाम पर दृष्टि डाली गयी है। ये गुण हमेशा ही परिणमित होते रहते हैं। इनका परिणाम दो प्रकार का होता है— सदृश परिणाम व विसदृश परिणाम। प्रकृति की मूल कारण अवस्था में परिणाम सदृश होते हैं, जब प्रलय की स्थिति होती है, विसदृश परिणाम सृष्टि की अवस्था में होता है। यह गुण आपस में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं, इससे ही सृष्टि का विकास होता है। चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत गुण संख्या के विषय में विचार किया गया है। गुण संख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु सांख्य स्वीकृत गुण तीन ही हैं। अतः इनमें खींचातानी करना व्यर्थ ही है।

चतुर्थ अध्याय – “पुरुष का स्वरूप” के अन्तर्गत सांख्य दर्शन के द्वैतत्ववाद में एक,

व सृष्टि प्रक्रिया में सम्मिलित न होते हुए भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले पुरुष का विवेचन किया गया है। पुरुष शब्द आत्मा के अर्थ में व्यवहृत है। पुरुष का स्वभाव चैतन्य है जो कि प्रकृति के विपरीत है व साक्षी तथा उदासीन है। कूटस्थ नित्य होने के कारण पुरुष 'कारण-कार्य श्रृंखला' से पृथक् है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत अन्य भारतीय दर्शनो के आत्मतत्त्व के साथ सांख्य के पुरुष की तुलना की गयी है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत पुरुष के अस्तित्व का वर्णन किया गया है, जिसके लिए पाँच दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं—सधातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्यात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात् तथा कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः। इन दृष्टान्तों द्वारा पुरुष का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। तृतीय खण्ड के अन्तर्गत पुरुष बहुत्व का विवेचन किया गया है, वे पुरुष तत्त्वरूप में तो एक हैं। किन्तु सख्या की दृष्टि से अनेक हैं। इसके लिए सांख्यकारिका में जननमरण करणाना, इत्यादि कारिका प्रस्तुत की गयी है। विभिन्न पुरुषों के जन्म और मृत्यु में अन्तर है। ससार के सभी व्यक्तियों के क्रियाकलापों में भिन्नता दिखाई देती है तथा उनमें भिन्न-भिन्न स्तर भी दिखाई देते हैं। सांख्य दर्शन बहुसंख्यक पुरुषों में तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं मानता। चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत सांख्य में ईश्वर की सत्ता स्वीकारने या उसे नकारने तथा ईश्वर के निकट पुरुष को प्रतिष्ठापित करने के विषय में चर्चा की गई है। सांख्य ने तो ईश्वर की सत्ता को पूर्णरूपेण नकार दिया है। प्राचीन सांख्य में ईश्वर के तत्त्व कहीं-कहीं मिलते हैं। यदि हम पुरुष को ईश्वर मानें तो भी सांख्य मत का अतिक्रमण होगा। पंचम खण्ड के अन्तर्गत पुरुष और बुद्धि के सम्बन्ध को बताया गया है। बुद्धि ही प्रकृति और पुरुष के भेद को बताती है। अपनी सात्त्विक अवस्था में प्रकृति के पारदर्शी होने के कारण उसके अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुष प्रकृति के अहं भाव तथा कर्तृत्व (अभिमान) को भूल से अपना समझ लेता है। षष्ठ खण्ड के अन्तर्गत

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को बताया गया है। यहाँ पर इनके सम्बन्ध की चर्चा संक्षिप्त रूप से ही की गयी है। विस्तृत विवेचन शोध प्रबन्ध के अष्टम अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। प्रकृति पुरुष संयोग से ही गुणों में वैषम्य प्रकट होता है व सृष्टि का विकास होता है।

पंचम अध्याय – “जगत् की सृष्टि प्रक्रिया एवं विकासक्रम” के अन्तर्गत प्रधान तत्त्व प्रकृति से क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों का विवेचन किया गया है। सांख्य पुरुष सहित पचीस तत्त्व मानता है। सर्वप्रथम प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्व से अहंकार अहंकार से सोलह तत्त्वों (पंचतन्मात्राएँ एवं ग्यारह इन्द्रियों) का समुदाय उत्पन्न होता है। इन सोलह तत्त्वों के समुदाय में से भी पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। सांख्य का सृष्टि प्रक्रिया अर्थात् विकास क्रम सिद्धान्त अनेक आशंकाओं को जन्म देता है। प्रकृति की समुचित व्याख्या करते समय विरोधाभास उत्पन्न होता है। प्रकृति से विकास की प्रथम सीढ़ी महत् तत्त्व की स्थिति भ्रम पूर्ण है। अध्याय को नौ खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत महत् (बुद्धि) व उसके परिणाम आदि का वर्णन है। बुद्धि के धर्म, ज्ञान ऐश्वर्य इत्यादि आठ धर्म हैं, इसी खण्ड में अविद्या व उसके सूक्ष्म भेदों—अशक्ति, तुष्टि और सिद्धियों का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत अहंकार का वर्णन है। यह महत् का कार्य या विकार है। अहंकार अहं को प्रकट करता है। यह तीन प्रकार का होता है— सात्त्विक, राजस् और तामस्। सात्त्विक या वैकृत अहंकार से इन्द्रियों की, तामस् से तन्मात्राये उत्पन्न होती हैं। राजस् अहंकार दोनों अहंकारों के कार्यों में सहायक बनता है। तृतीय खण्ड के अन्तर्गत एकादश इन्द्रियों, चतुर्थ के अन्तर्गत मन, पंचम के अन्तर्गत बाह्यकरण एवं अन्तःकरण का वर्णन किया गया है। षष्ठ खण्ड के अन्तर्गत पंचतन्मात्रा, सप्तम में पंचमहाभूत, अष्ट में सूक्ष्म शरीर का वर्णन है। नवम खण्ड के अन्तर्गत दिक् और काल की

चर्चा की गयी है। विश्व का मूल कारण दिक् और काल में व्याप्त रहता है, किन्तु सांख्य प्रकृति को दिक् और काल की सीमा से परे मानता है। अन्त में सृष्टि क्रम व विकास की त्रुटियों और महत्ता पर प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्याय— “सांख्य दर्शन में द्वितत्त्ववाद का विश्लेषण” के अन्तर्गत सांख्य के दो तत्त्वों पुरुष और प्रकृति का सामान्य मूल्यांकन, प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध व उनके ससर्ग पर प्रश्न उठाये गये हैं। इसी अध्याय के अन्तर्गत सृष्टि प्रक्रिया पर समालोचनात्मक दृष्टि से इन दोनों तत्त्वों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय — “बन्धन और कैवल्य” के अन्तर्गत सांख्य दर्शन के चरम लक्ष्य कैवल्य अर्थात् त्रिविध दुःखों (बन्धनों) से मुक्ति का विवेचन किया गया है। इस अध्याय को मुख्यतया दो खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में बन्धन के कारणों का वर्णन किया गया है। सभी प्रकार के बन्धनों का कारण प्रायः अविवेक है। प्रकृति-पुरुष अपने गुणों एवं कार्यों से भिन्न हैं तथापि उन्हें अविद्यावश एक समझ लिया जाता है। पुरुष दुःखों को अपना समझता हुआ बन्धन में पड़ा रहता है। इसी खण्ड में अविद्या अथवा अविवेक के भेदों का विवेचन भी किया गया है। द्वितीय खण्ड “कैवल्य का स्वरूप” के अन्तर्गत मुक्ति का विशद विवेचन किया गया है। दुःखों का आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। जब सांख्य शास्त्र के अध्ययन और अनुभूति से पुरुष अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति से अपनी भिन्नता जान लेता है। तब वह ‘केवली’ हो जाता है, यही मोक्ष है। इसी खण्ड में सांख्य के मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त ‘कैवल्य’ की आलोचना भी की गयी है।

अन्त में समस्त शोध प्रबन्ध की समीक्षा हेतु उपसंहार दिया गया है।



**सांख्य दर्शन में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का  
आलोचनात्मक अध्ययन**

**(Sankhya Darshan Mein Jagat Ki Srishti Prakriya  
Ka Alochnatmaka Adhyayana)**

**THESIS**

**SUBMITTED FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF**

**Doctor of Philosophy**

**IN**

**SANSKRIT**

**BY**

**BHAGWAN DAYAL YADAV**

**UNDER THE SUPERVISION OF**

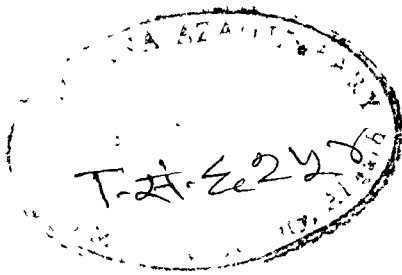
**DR. MOHD. SHARIF**

**Ph.D., D.Litt.**

**Senior Lecturer**

**DEPARTMENT OF SANSKRIT  
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY  
ALIGARH (INDIA)**

**2003**



T6254



पूजनीया (स्व०) मातामही  
को समर्पित

**Dr. Mohd. Sharif**  
Ph.D., D.Litt. (A.U.)  
**Senior Lecturer**  
Department of Sanskrit  
Aligarh Muslim University



**Residence:**  
4/331, Firdous Nagar  
Qila Road, Aligarh-202 001  
2704087 (R)  
2700920 (O)  
2700921 (O)

### Certificate

This is to certify that the thesis entitled “**Sankhya Darshan Mein Jagat Ki Shrishti Prakriya Ka Alochnatmaka Adhyayana**” presented by **Mr. Bhagwan Dayal Yadav** for the award of **Ph.D** degree in **Sanskrit** is an original reasearch work. It is the result of his own efforts and it has been completed under my supervision.

The candidate has fulfilled all the conditions laid down in the academic ordinance<sup>n</sup> of the Aligarh Muslim University. Aligarh for the above purpose.

Mohd Sharif  
(Dr. Mohd. Sharif)  
Supervisor

Forwarded  
31.12.03  
Dr. Mohd. Sharif  
Aligarh Muslim University

## प्राक्कथन

परारम्भातक कक्षा में आचार्य ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का अध्ययन करने के पश्चात् 'सांख्य दर्शन' में सृष्टि सम्बन्धी विचारों ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया। अतः मेरी इस विषय पर शोध कार्य करने की आकांक्षा हुई। जिसे साकार रूप दिया मेरे निर्देशक, पूजनीय गुरु डॉ० मौ० शरीफ ने जिन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण परामर्श तथा निर्देशन से "सांख्य दर्शन में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का आलोचनात्मक अध्ययन" इस विषय पर शोधकार्य करने के लिए मुझे प्रेरित किया।

प्रस्तुत विषय में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन द्वारा प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त की आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचना की गई है।

मैं अपना शोध-प्रबन्ध जिनकी सत्प्रेरणा एवं सहयोग से पूर्ण कर सका, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा परम कर्तव्य है। सर्वप्रथम मैं परम पिता परमेश्वर (का) धन्यवाद देता हूँ जिसकी कृपा के बिना यह कार्य संभव ही नहीं था। मैं अपने परम श्रद्धेय गुरु डॉ० मौ० शरीफ के प्रति आजीवन कृतज्ञ तथा ऋणी रहूँगा, जिन्होंने मुझे भ्रातृवत् स्नेह एवं प्रत्येक पग पर मेरा मार्ग दर्शन किया।

आदरणीया डॉ० (श्रीमती) शाहीन जाफरी पत्नी श्री मौ० शरीफ को मैं धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने शोध-कार्य में सहयोग प्रदान करके उचित मार्ग-दर्शन किया।

शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा जी के सहयोग के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने प्रत्येक क्षण विभाग से सहायता प्रदान की। विभाग के अन्य समस्त गुरुजनों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ।

विभाग पुस्तकालयाध्यक्षा नुजहत किदवई जी का मैं आभारी रहूँगा, जिन्होंने शोध सामग्री उपलब्ध कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अतिरिक्त श्री जंगबहादुर सिंह तथा श्री नजरेआलम साहब के प्रति भी उनके सहयोग के कारण कृतज्ञ हूँ।

परमादरणीय डॉ० उमाकान्त यादव एव डॉ० रामसेवक दुबे संस्कृत विभाग, इलाहाबाद वि०वि० इलाहाबाद का मैं आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरे शोधकार्य में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

मैं अपनी माता श्रीमती शान्ती यादव एव पिता श्री फुलगेद यादव के प्रति आजीवन ऋणी रहूँगा, जिनके शुभाशीष से ही मैं यह कार्य पूर्ण कर सका। मैं अपने चाचा—चाचियों एव भ्राता श्री हरीराम यादव, अग्रज श्री दीनदयाल यादव के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके शुभाशीर्वाद मुझे सदैव आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते रहें। मैं अनुज शंकर दयाल बहनो तथा भाभियों के प्रति भी आभारी हूँ जिनके द्वारा सदैव उत्साहवर्द्धन तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा। इसके अतिरिक्त मैं श्री तिलकधारी यादव एव श्री पतिराज यादव के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनका सहयोग एव आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा है।

मैं अपनी पत्नी श्रीमती निशा यादव के प्रति अपना असीम आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने दुःख के क्षणों में भी मुझे कार्य से विमुख नहीं होने दिया तथा जिनके प्रेरणास्पद शब्दों ने मेरे शोध कार्य को सदैव गति प्रदान किया।

मैं अपने मित्रों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने विभिन्न प्रकार से सदैव अपना सहयोग प्रदान किया।

मैं शोध—प्रबन्ध के टंकण कार्य में समर्पित भाव से सहयोग करने के लिए विशाल मणि त्रिपाठी एव उनकी बहन कु० अनुराधा त्रिपाठी का आभारी हूँ।

अन्त में सभाध्य त्रुटियों की क्षमा—याचना करते हुए मैं अपना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मूल्यांकनार्थ नीर क्षीर विवेकी विद्वज्जनो के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ।

दिसम्बर 2003 (मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष)

भगवान् दयाल यादव  
(भगवान् दयाल यादव)

# विषयानुक्रमणिका

पृ० सं०

## प्रथम अध्याय

### सांख्य दर्शन का स्वरूप

1—47

#### 1.1 : सांख्य दर्शन का उद्भव

क. वेदों एवं उपनिषदों में सांख्य

ख. महाभारत में सांख्य का अस्तित्व

ग. गीता एवं पुराणों में सांख्य

#### 1.2 : सांख्य प्रवर्तक कपिल

क. कपिल का समय

ख. कपिल की कृति

#### 1.3 : शिष्य परंपरा और साहित्य

क. आसुरि

ख. पंचशिख

ग. जैगीषव्य

घ. वार्षगण्य

ङ. ईश्वरकृष्ण

#### 1.4 : सांख्यकारिका पर टीकाएँ

#### 1.5 : तत्त्ववाद

## द्वितीय अध्याय

### प्रकृति का स्वरूप

48—84

#### 2.1 : सत्कार्यवाद

#### 2.2 : परिणामवाद एवं विवर्तवाद ✓

#### 2.3 : प्रकृति के विभिन्न नाम

#### 2.4 : प्रकृति की सत्ता

क—व्यक्त एवं अव्यक्त में भेद व समानता

- 25 प्रकृति का सत् एव भावरूप
- 26 साख्य मत में असत्
- 27 प्रकृति अनादि है
- 28 प्रकृति और कर्तृत्व
- 29 प्रकृति एक है अथवा अनेक

### तृतीय अध्याय

#### प्रकृति के त्रिगुण

85—102

- 31 गुणों का स्वरूप
  - क सत्त्व
  - ख रजस्
  - ग तमस्
- 32 गुणों का आधुनिक विज्ञान के तत्त्वों से साम्य
- 33 गुणों का परिणाम
- 34 गुण सख्या के विषय में मतभेद

### चतुर्थ अध्याय

#### पुरुष का स्वरूप

103—131

- 41 साख्य दर्शन का पुरुष, एव अन्य भारतीय दर्शनो में आत्म सत्त्व
- 42 पुरुष का अस्तित्व
- 43 पुरुष बहुत्व
- 44 निरीश्वरवादी साख्य और पुरुष
- 45 पुरुष और बुद्धि
- 46 प्रकृति पुरुष सम्बन्ध :

## पंचम अध्याय

जगत् की सृष्टि प्रक्रिया, एवं विकास क्रम 132—170

5.1 : महत् तत्त्व

क बुद्धि के परिणाम

5.2 अहकार

5.3 एकादशेन्द्रिय

क ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय

5.4 मन

5.5 : बाह्य करण एवं अन्तः करण

5.6 : पंच तन्मात्र

5.7 : पंच महाभूत

5.8 : सूक्ष्म शरीर

5.9 : दिक् और काल

## षष्ठ अध्याय

सांख्य दर्शन में द्वितत्त्ववाद का विश्लेषण 171—193

## सप्तम अध्याय

बन्धन और कैवल्य 194—217

7.1 : बन्धन के कारण

7.2 : कैवल्य का स्वरूप

उपसंहार 218—223

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 224—230

## प्रथम अध्याय

### सांख्य दर्शन का स्वरूप

#### 1.1 : सांख्य दर्शन का उद्भव

- क. वेदों एवं उपनिषदों में सांख्य
- ख. महाभारत में सांख्य का अस्तित्व
- ग. गीता एवं पुराणों में सांख्य

#### 1.2 : सांख्य प्रवर्तक कपिल

- क. कपिल का समय
- ख. कपिल की कृति

#### 1.3 : शिष्य परंपरा और साहित्य

- क. आसुरि
- ख. पंचशिख
- ग. जैगीषव्य
- घ. वार्षगण्य
- ङ. ईश्वरकृष्ण

#### 1.4 : सांख्यकारिका पर टीकाएँ

#### 1.5 : तत्त्ववाद



जगत् की उत्पत्ति के साथ सुख-दुःख भी उत्पन्न होते हैं संसार का प्रत्येक जीव सुख की प्राप्ति व दुःख की निवृत्ति चाहता है। जगत् की उत्पत्ति क्यों होती है? तथा सृष्टि का मूल कारण क्या है? चिन्तनशील मानव की इस विषय में जिज्ञासा आज भी शान्त नहीं हुयी है। ऋषियों को आत्मसाक्षात्कार द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हुआ वह दर्शन कहलाया। भारतीय दर्शनों में इस क्षराक्षर सृष्टि का योग्य रीति से वर्णन किया गया है जिसमें महर्षि कपिल के सांख्यशास्त्र का अन्यतम् स्थान है। उस सांख्यदर्शन का क्या स्वरूप है, प्रस्तुत अध्याय में इसका विशद विवेचन किया जाएगा।

सांख्य के अनुसार अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष के संयोग से जगत् की सृष्टि होती है। सांख्य शब्द सम् पूर्वक 'चक्षिडः ख्याञ्' (ख्याज) धातु से बना है, इसका अर्थ है— सम्यक् ख्यानम् अर्थात् सम्यक् विचार सम्यक् विचार का अर्थ है— पुरुष और प्रकृति के बीच की भिन्नता का ज्ञान है। कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य शब्द 'संख्या' शब्द से प्राप्त हुआ है। सांख्य में तत्त्वों की संख्या (25) बतलायी गयी है। गणनार्थक संख्या शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। महाभारत में सांख्य के निर्णय में आए हुए एक श्लोक में ये दोनों ही प्रकार के भाव प्रकट किए गए हैं—

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ।।<sup>1</sup>

इसका शब्दार्थ यह है कि जो संख्या अर्थात् प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान का उपदेश करते हैं, तथा जो तत्त्वों की संख्या चौबीस निर्धारित करते हैं वे सांख्य

<sup>1</sup> महाभारत 12/31/42

कहे जाते हैं। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि ज्ञानार्थक 'संख्या' शब्द से की जाने वाली 'सांख्य' की व्युत्पत्ति ही मुख्य है, गणनार्थक 'संख्या' शब्द से की जाने वाली गौण। चूँकि सांख्य में प्रकृति एवं पुरुष के विवेक ज्ञान से ही जीवन के परम लक्ष्य 'कैवल्य' या मोक्ष की सिद्धि मानी गई है, अतः उस ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य है और इस कारण सांख्य का सारा बल उसी पर है। सांख्य (पुरुष के अतिरिक्त) चौबीस तत्त्व मानता है, यह तो एक सामान्य तथ्य या वास्तविकता का कथन मात्र है, अतः गौण है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल में दार्शनिक विकास की प्रारंभिक अवस्था में जब तत्त्वों की संख्या निश्चित नहीं हो पाई थी, तब सांख्य ने सर्वप्रथम इस दृश्यमान भौतिक जगत् की सूक्ष्म मीमांसा का प्रयास किया जिसके फलस्वरूप उसके मूल में वर्तमान तत्त्वों की संख्या सामान्यतः चौबीस निर्धारित की थी। डॉ० सूर्य नारायण शास्त्री ने सांख्य शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—“सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति सामान्य ज्ञान अथवा तत्त्व गणना से सम्बद्ध विशिष्ट ज्ञान के वाचक 'संख्या' शब्द से बताई जाती है। परन्तु दोनों में कौन सा समीचीन है, इस बात का निर्णय करने के लिए कोई साधन नहीं है।<sup>1</sup> किन्तु सांख्य का उल्लेख सदा ही संख्या के सम्बन्ध में नहीं होता।<sup>2</sup> भगवद्गीता में भी इस दर्शन को तत्त्व-गणन या तत्त्व संख्या कहा गया है। कुछ विद्वान सांख्य के प्रणेता का नाम संख्य होना बताते हैं, किन्तु महर्षि कपिल के अतिरिक्त अन्य को सांख्य का प्रवर्तक कहना भ्रांतिमूलक ही है।

<sup>1</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्य दर्शन, पर्यालोचन, पृ० 8, 9

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 215.

विष्णु सहस्रनाम पर अपनी टीका में शंकराचार्य एक वाक्य उद्धृत करते हैं, जहाँ सांख्य से तात्पर्य विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान है—“शुद्धात्मतत्त्वविज्ञान सांख्यमित्यभिधीयते।” अनादि काल से आत्मा अविद्या से आच्छादित है। यही उसका बन्धन है। अविद्या ही के कारण ‘आत्मा’ को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। स्वरूप के ज्ञान के बिना दुःख की निवृत्ति भी नहीं हो सकती। अतएव स्वरूप ज्ञान अर्थात् अविद्या से आत्मा को पृथक् करना आवश्यक है। अर्थात् सत्त्व-रजस् तमो रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है इसी पृथक्करण को ‘विवेकख्याति’ या ‘विवेक’ या ‘प्रकृति पुरुष विवेक’ कहते हैं। पंचशिखाचार्य ने कहा है—

‘एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्’ इस विवेक बुद्धि की प्राप्ति ‘सांख्यदर्शन के विषयों’ को जानने से मिलती है। इसीलिए इसे सांख्य दर्शन कहते हैं।<sup>1</sup>

1.1 : भारतीय दर्शन में सांख्य को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है, जिसका उल्लेख वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत, पुराण आदि में मिलता है। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने सांख्य का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है जिससे सिद्ध होता है कि सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत में इस शास्त्र को सनातन कहा गया है।<sup>2</sup> सांख्य दर्शन की प्रशंसा में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल कहते हैं—“भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था देश के उदात्त मष्तिष्क सांख्य की विचार पद्धति से सोचते थे।<sup>3</sup> ईश्वर कृष्ण इसे पवित्र एवं अनादि

<sup>1</sup> उमेश मिश्र, भारतीय-दर्शन, उ० प्र० हिन्दी संस्थान लखनऊ

<sup>2</sup> ‘सांख्य च योग च सनातने द्वे’—महाभारत, शान्ति पर्व

<sup>3</sup> डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 1 (भूमिका)

काल से प्रचलित अग्र्य ज्ञान कहते हैं।<sup>1</sup>

1.1 क वैदिक संहिताओं में साख्य शब्द साक्षात् कहीं नहीं मिलता है। किन्तु साख्य की विचारधारा का मूल ऋग्वेद<sup>2</sup> में मिलता है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विश्व-विज्ञान के विवरण में साख्य के प्रकृति-पुरुष सिद्धान्त की कुछ अस्पष्ट पूर्वप्रकल्पनाओं का उल्लेख मिलता है।<sup>3</sup> साथ ही साख्य सदृश एक दर्शन का प्रणेता महर्षि कपिल को मानते हुए ऋग्वेद<sup>4</sup> में इनका उल्लेख आदरपूर्वक दिया गया है। वेदभाष्यकार सायण इसका अर्थ 'महर्षि ऋषि' साख्य का प्रवक्ता कपिल हो सकता करते हैं। इस प्रकार कपिल की सत्ता ऋग्वेद में स्वीकार की जाती है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न मत मिलते हैं, इन वैषम्यपूर्ण मतों में सृष्टि सम्बन्धी एक सामान्य विचार की स्थापना सहज नहीं थी। लेकिन साख्य तर्क के माध्यम से सृष्टि सम्बन्धी जो वास्तविक विचार प्रस्तुत करता है, उस विषय में साख्य को प्रारम्भ बिन्दु मान सकते हैं। 'यजुर्वेद की शाखा' नामक लेख में डॉ० रघुवीर ने कपिल शाखा को आर्यावर्त में प्रचलित बताया है।<sup>5</sup> 'न जायते इत्यजा' का कथन वेदों में प्रकृति के लिए ही कहा गया है। यही कारण है कि यहाँ प्रकृति को 'अजा' कहा गया है। यही नहीं अपितु श्रुतियों में भी आत्मा को आनन्दस्वरूप नहीं माना गया है यथा—नानन्द न निरानन्दम्। साख्यदर्शन में देवों को वैकारिक सर्ग का माना गया है जिनमें उच्चावच स्तर का भेद है। प्रकाशात्मक सत्त्व गुण का आधिक्य से युक्त

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ (साख्य कारिका-70)

<sup>2</sup> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोस्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यशनम्।

न्योऽभि चाकशीति॥ ऋग्वेद 1/164/120॥

डॉ० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग 2 पृष्ठ 215

<sup>4</sup> ऋग्वेद 10/27/16

<sup>5</sup> Dr Raghubeer, Journal of Vedic studies Vol-I, pt II, the Vedas and their religious teaching Vol-I PP 1- 19

अहंकार 'वैकारिक' कहलाता है। वैकारिक अहंकार से उत्पन्न देवता के शरीर में 'कारणगुणा. कार्यगुणानारम्भन्ते' के नियम से प्रकाशशीलता आदि लक्षण विद्यमान है।

शरीर अधिष्ठान है और अधिष्ठाता इससे ऊपर है। अधिष्ठान के रूप में प्रकृति की वास्तविक सत्ता स्वीकार करने वाले वेद में यदि कोई दर्शन है तो वह साख्य ही होगा।<sup>1</sup> प्रकृति को भ्रम के रूप में स्वीकार करने वाला अद्वैत वेदान्त ऋग्वेद का दर्शन नहीं हो सकता है। क्योंकि वैदिक साहित्य में ब्रह्म को प्रकृति के रूप में लिया गया है। पुलिन बिहारी चक्रवर्ती<sup>2</sup> ने आसुरि और पचशिख के मत में ब्रह्म को विश्वात्मा का अर्थ माना है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म का प्रयोग 'वृंहति' और 'वृहंयति' दो अर्थों में हुआ है, जो क्रमशः प्रकृति और पुरुष अर्थ को व्यक्त करता है। इस प्रकार यहाँ विकासवाद के अनुसार कार्य को कारणानुरूप दिखाया गया है। सांख्य के मत में प्रकृति एक अक्षय भण्डार है। जिसमें सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ है या होता है।

अनेक विद्वान ऋग्वेद<sup>3</sup> के निम्नलिखित मंत्र में प्रकृति-पुरुष सिद्धान्त की कुछ अस्पष्ट झलक देखते हैं—

“दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।

अतूर्तपन्था पुरुरथोः अर्यमा सप्त होता विपुरुषेणु जन्मसु।।

डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगावकर ने इस मंत्र में 'अदिति' का अर्थ प्रकृति, 'दक्ष' का अर्थ 'पुरुष' एवं 'सप्त होता' का अभिप्राय सात प्रकृति विकार करके साख्य

<sup>1</sup> रामशरण पाण्डेय, महाभारत और पुराणों में साख्य दर्शन, पृ० 3

<sup>2</sup> PulinBihari Chakrawarti, Origin and Development of Sanskhyasystem of thought, pp. 25-28, 38-39, 44, 106

<sup>3</sup> ऋग्वेद—10/64/5

की अतिप्राचीनता प्रतिपादित की है।<sup>1</sup> डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र ऋग्वेद के इस मंत्र में तमआसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेत<sup>2</sup> में आये “तम” को सांख्य के भावी अव्यक्त का संकेत मानते हैं। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य की पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार अत्यन्त प्राचीन है।

प्राचीन उपनिषदों में इस दर्शन के बीज यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्<sup>3</sup> में पुरुष को असंग, निष्क्रिय एवं द्रष्टा माना गया है। पुरुष का यह स्वरूप सांख्य में भी प्रतिपादित है। सांख्य दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त सत्कार्यवाद का समर्थन छान्दोग्योपनिषद् की इन पंक्तियों द्वारा होता है—

“कृतस्तु खलु सोम्येवं स्यादिति होवाच

कथमसतः सज्जायेत इति।

सदेव इदमग्रासीत एकमेवाद्वितीयम्।<sup>4</sup>

इसी उपनिषद् में वाक्य “यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यादाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” में प्रकृति परिणामवाद के संकेत मिलते हैं।<sup>5</sup> छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक के प्रारम्भिक भाग में ही तेजस् अप आर अन्न का निरूपण किया गया है। ये तीनों ही यथा—क्रम रजस् तमस् तथा सत्त्व के प्रतीक हैं।<sup>6</sup> डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र का यह विचार है कि ‘त्रिरूप जगद्योनि’ का सिद्धान्त सांख्य के त्रिगुणात्मक प्रधानकारणवाद के मूल में था।<sup>7</sup> त्रिवृत्करण सांख्य के

<sup>1</sup> डॉ० गजानन शास्त्री, सांख्य तत्त्व कौमुदी की व्याख्या तत्त्वप्रकाशिका।

<sup>2</sup> ऋग्वेद, 10/129/3

<sup>3</sup> असङ्गो हि अयं पुरुष (4/2/35)

<sup>4</sup> छान्दोग्योपनिषद्, 6/2/2

<sup>5</sup> छान्दोग्योपनिषद्, 6/1/4

<sup>6</sup> उदयवीर शास्त्री, “सांख्यदर्शन का इतिहास” पृ० 40-41

<sup>7</sup> डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, “सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा का इतिहास, पृ० 37

त्रिगुण-सिद्धान्त को उपस्थित करने का एक प्रकार है।<sup>1</sup>

कठोपनिषद्<sup>2</sup> में प्रकृति के स्तर पर विकास श्रृंखला में सबसे ऊँचा स्थान 'अव्यक्त' को दिया गया है जिससे महान आत्मा बुद्धि मन पदार्थ (दिग्य) और इन्द्रियाँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं। अहकार का उल्लेख नहीं है और परमात्मा (ब्रह्म) की सत्ता को स्वीकार किया गया है, तो भी विश्व-विकास का यह प्रथम वर्णन है।

साख्यसूत्र (5/12) में मोक्ष का प्रतिपादन श्रुत्यनुसार ही हुआ प्रतीत होता है।<sup>3</sup> इसका भाष्य करते हुए विज्ञानभिक्षु के "न ह वै सशरीरस्य अशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत" इस श्रुति को उद्धृत किया है। साख्यसूत्र (5/12) के ही भाष्य में विज्ञानभिक्षु तद्वैद तद्व्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत<sup>4</sup> एवं अजामेकालोहितशुक्लकृष्णा इत्यादि श्रुति को उद्धृत करते हुए प्रधान कारणवाद को श्रुतिसम्मत सिद्ध करते हैं।<sup>5</sup> डॉ० कीथ के कथनानुसार उपनिषदों में साख्यदर्शन या सम्प्रदाय का किसी प्रकार स्पष्ट साक्ष्य मानना असम्भव है फिर भी यत्र-तत्र उनमें ऐसे बीज मिलते हैं जिनसे उन विचारों का विकास लक्षित होता है जो आगे चलकर साख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप में रखे गये, किन्तु इन बिखरे हुए संकेतों के आधार पर यह ज्ञात नहीं किया जा सकता कि उस समय साख्य दर्शन के निर्माण या व्यवस्था की प्रक्रिया चल रही थी।<sup>6</sup> वे यह स्वीकार करते हैं कि कठ एवं

<sup>1</sup> उत्कर्षादपि मोक्ष सर्वोत्कर्ष श्रुते साख्यसूत्र 1/5

<sup>2</sup> कठोपनिषद्— 3/19 व 11 6/7 से 1

<sup>3</sup> श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य, साख्यसूत्र 5/12 तद्वैद तद्व्यव्याकृतमासीत् इत्यादि

<sup>4</sup> श्रुति-बृहदारण्यक श्रुति 1/4/7

<sup>5</sup> श्वेतावतरोपनिषद् 4/5

<sup>6</sup> कीथ साख्य सिस्टम—पृ० 7

श्वेताश्वतर मे इसके विकास के पूर्व चिन्ह दिखाई पडते है।<sup>1</sup> सांख्य शास्त्र मे सृष्टि विषयक सिद्धान्त मे महत् एव अव्यक्त पद आये हुए है। इतना ही नही इनमे सूक्ष्मता का क्रम भी 'महत् परमव्यक्त' इसी उपनिषद् के समान स्वीकृत है।

उपनिषदों से न केवल पुनर्जन्म तथा ससार की अमरता के ही भाव, अपितु ऐसे-ऐसे मुख्य सिद्धान्त भी जैसे कि ज्ञान मोक्ष का साधन है और पुरुष विशुद्ध प्रमाता है आदि विचार लिए गए है।<sup>2</sup> मैत्रायणी उपनिषद् जो बौद्धकाल के बाद की मानी जाती है।<sup>3</sup> परिष्कृत सांख्य से सुपरिचित था, तन्मात्राओ<sup>4</sup> तीन गुणों<sup>5</sup> और आत्मा एवं प्रकृति के भेद का उल्लेख करती है।<sup>6</sup> श्वेताश्वतरोपनिषद् को सांख्योपनिषद् कहा गया है। सांख्य, कपिल, व्यक्त, अव्यक्त, ज्ञ आदि शब्द इस उपनिषद् में मिलते हैं।<sup>7</sup> गुणों का उल्लेख भी इसमें मिलता है।<sup>8</sup> इस उपनिषद् में सर्वाधिष्ठाता ब्रह्म का चक्ररूप में वर्णन है जिसमें सांख्य दर्शन के वर्ण्य विषय आये हैं—त्रिगुण, षोडश विकार, और पंचाशत् बुद्धि कृत सर्गादि हैं। इसी उपनिषद् में सर्वप्रथम कपिल एवं सांख्य का नामोल्लेख हुआ है जिसके आधार पर अनेक विद्वान यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस उपनिषद् के पूर्व ही सांख्य व्यवस्थित हो चुका था। लोकमान्यतिलक<sup>9</sup> सृष्टि की रचना और सहार के प्रकरण का उपसहार करते हुए उपनिषदों मे वर्णित प्रकृति के त्रिगुणों के अन्योन्यमिथुनावृत्ति के सम्बन्ध मे कहते है—कि ऐसा वर्णन

<sup>1</sup> डॉ० ए० बी० कीथ, सांख्य फिलासफी—पृ० 54,

<sup>2</sup> बृहदारण्यक उपनिषद्—2/4 व 14 3/4 व 4/3 व 15 मुण्डकोपनिषद्, 3/1

<sup>3</sup> डॉ० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 216, Keith, Samkhya System, PP-14-15

<sup>4</sup> मैत्रायणी उपनिषद्, 3/2

<sup>5</sup> मैत्रायणी उपनिषद्, 2/5, 5/2

<sup>6</sup> मैत्रायणी उपनिषद्, 6/10

<sup>7</sup> श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/13, 5/2 1/8, 1/9

<sup>8</sup> अनन्तश्चातम विश्वरूपो ह्ययकर्ता त्रय यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1/8

<sup>9</sup> लोकमान्यतिलक, गीतारहस्य, पृ० 156—160



साख्यशास्त्र ज्ञान के आधार पर उल्लिखित हैं क्योंकि सृष्टि के विकास के इसी क्रम को शास्त्रकारों ने प्रमाणित माना है। बृहदारण्यक उपनिषद्<sup>1</sup> में प्रज्ञासृष्टि के लिए दो विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्वों का संकेत मिलता है। इसी उपनिषद् में भोग्य और 'भोक्ता' का उल्लेख साख्य के द्वैतत्व प्रकृति व पुरुष की ओर संकेत करता है।

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि साख्य की पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार अत्यन्त प्राचीन है एवं उपनिषदों से प्रभावित है किन्तु यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वेद एवं प्राचीन उपनिषदों (बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य) के विचार साख्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं या नहीं। डॉ० राधाकृष्णन का विचार है कि जब साख्य यह दावा करता है कि इसका आधार उपनिषद् है तो इसके कथन में कुछ सत्यता अवश्य है, यद्यपि उपनिषदों की मूल प्रवृत्ति साख्य के द्वैतवाद के सर्वथा प्रतिकूल है। उपनिषदों की चिन्तन प्रवृत्ति ने साख्य की सृष्टि सम्बन्धी धारणा को बल प्रदान किया है।<sup>2</sup> प्रो० गार्व के अनुसार साख्य स्वरूपतः इतना विशिष्ट है कि यह किसी विशिष्ट महापुरुष के ही मस्तिष्क की उपज हो सकता है।<sup>3</sup> प्रो० याकोबी का मत है कि साख्य दर्शन भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित है, अतः यह उपनिषदों के विचार से विकसित नहीं हो सकता।<sup>4</sup> प्रो० गार्व का यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें उपनिषद् के विचारों का भी समावेश है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि साख्य श्रुति प्रतिपादित सिद्धान्त का अनुकरण मात्र नहीं है वरन् इससे स्वतंत्र रूप से

<sup>1</sup> बृहदारण्यकोपनिषद्, 1/4/3, 1/2/5 व 1/4/6

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 248

<sup>3</sup> उद्धृत आद्याप्रसाद मिश्र, साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा में उद्धृत (पृ० 58), साख्य सिस्टम, पृ० 57-59 के विचारांश

<sup>4</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृ० 58

विकसित हुआ है।<sup>1</sup> कीथ, याकोबी के मत का खण्डन करते हुए कहत है कि साख्य का विकास विशुद्ध अभिश्रित , भौतिकवादी विचारधारा से नहीं हुआ है बल्कि जन्म एव विकास ऐसे भौतिकवाद से हुआ है जिसका पूरक आध्यात्मवाद रहा हा। तिलक जी का भी यही कथन है कि साख्य दर्शन श्रुतियों से विकसित हुआ है। इस विषय में 'गीता रहस्य' के सप्तम प्रकरण में तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं –

1 वेदान्त (उपनिषद्) एव साख्य सिद्धान्त जो आपस में मिलते हैं उन्हें सर्वप्रथम किसने प्रतिपादित किया, वेदान्तियों ने या साख्यवादियों ने ,

—दोनों का विकास दो सगे भाइयों के समान हुआ हो और उपनिषदों में जो सिद्धान्त साख्य के समान दिखते हैं उन्हें उपनिषद्कारों ने स्वतंत्ररीति से खोज निकाला हो।

2 वेदान्तियों ने कदाचित् कुछ सिद्धान्त साख्यशास्त्र से लेकर वेदान्त के अनुकूल स्वरूप दे दिया हो।

3 कदाचित् प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में ही कपिलाचार्य ने अपन मतानुसार कुछ परिवर्तन करके साख्यशास्त्र का प्रतिपादन किया हो।

तीसरे मत को उपयुक्त मानते हुए वे दोनों दर्शनों को प्राचीन मानते हैं। किन्तु वे वेदान्त को साख्य से प्राचीन मानते हैं। वे यह स्पष्ट नहीं करते कि कपिल ने जिस भौतिक साख्य का प्रवर्तन किया था वह आरभ में ईश्वरवादी था या निरीश्वरवादी, किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि – साख्य का आरम्भिक

<sup>1</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृ० 31-32

<sup>2</sup> आद्याप्रसाद मिश्र साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा पृ० 31-32

स्वरूप ईश्वरवादी था— उपनिषदों, महाभारत, पुराणों में प्राप्त सांख्य ईश्वरवादी है।

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक शंकराचार्य ने अनेक स्थलों पर उपनिषदों में सांख्य के बीज रूप में उलब्धता को स्वीकार नहीं किया है। डॉ० आद्या प्रसाद ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि शंकराचार्य आदि के भगीरथ प्रयत्न के बावजूद सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति अश्रौत अर्थात् अवैदिक सिद्ध नहीं होती है। यह ठीक है कि सांख्य का प्रकृतिवाद श्रुति सम्मत एतद्विषयक सिद्धान्त का अनुकरण मात्र नहीं है बल्कि उससे स्वतंत्र रूप से विकसित है यही कारण है कि उससे भिन्न है। चूँकि सांख्य अपने प्रादुर्भाव या उद्भव के समय से ही एक पृथक् प्रस्थान माना जाता रहा है। यही कारण है कि इसका उपनिषदों से कुछ न कुछ भेद बना रहा है। यही नहीं अपितु जब मूल सांख्य कभी ईश्वरवादी रहा होगा तो भी उसकी प्रकृति ईश्वर की शक्ति न होकर उससे पृथक् एक स्वतंत्र तत्त्व रही होगी।<sup>1</sup>

उपर्युक्त विवरणों से हम देखते हैं कि यद्यपि सांख्य के तत्त्व प्रत्यक्षरूप से तो उपनिषदों में हमें प्राप्त नहीं होते किन्तु जो कुछ भी इनमें सांख्य सम्मत विचार मिले हैं उनमें विद्वानों ने सांख्य की प्राचीनता सिद्ध की है।

1.1 ख : वेद और उपनिषदों के साथ सांख्य का द्वितत्त्ववाद महाभारत में भी मिलता है। यही कारण है कि सांख्य की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए लोकमान्य तिलक सम्भावनाओं को आंगिक रूप से स्वीकार करते हुए सांख्य को सर्वप्राचीन दर्शन मानते हैं।

महाभारत में सांख्यशब्द के अपरसंज्ञा के रूप में यथाश्रुति — निदर्शनम् शब्द

<sup>1</sup> डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र : सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा।

का प्रयोग हुआ है।<sup>1</sup> यदि यह श्रुतिमूलक न होता तो परमआस्तिक वैदिक विद्वानों की साख्य के अध्ययन में प्रवृत्ति क्यों होती? भारतीय संस्कृति में किसी समय साख्य दर्शन का अपना महत्वपूर्ण स्थान था। महाभारतकार ने स्वयं इसकी पुष्टि की है — “ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् साख्यागतं तच्च महन्महात्मन्।”<sup>2</sup>

महाभारत के अनेक स्थलों में सवाद के रूप में साख्य का विवेचन प्राप्त होता है। इन सवादों से यह प्रकट होता है कि ये वर्णन किसी साख्य-ग्रन्थ या परंपरा के आधार पर किए गये हैं। इन सवादों में एक कपिल-आसुरिसवाद है। इस सवाद में साख्य दर्शन के तत्त्वों तथा त्रिगुणों, प्रकृति से महदादि की उत्पत्ति का वर्णन है। प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त पच्चीसवें तत्त्व पुरुष का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पचशिखजनक सम्वाद<sup>3</sup>, करालजनक-वशिष्ठ सवाद<sup>4</sup>, जनक-याज्ञवल्क्य सवाद<sup>5</sup>, सुलभाजनक सवाद<sup>6</sup>, नारद-नरनारायण सवाद<sup>7</sup> एवं जनमेजय-वैशम्पायन सवाद<sup>8</sup> शान्तिपर्व में वर्णित हैं जिसमें साख्य सिद्धान्तों का काव्यात्मक शैली में वर्णन है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि सर्वत्र इसे पुराणेतिहास<sup>9</sup> कहा गया है। इससे साख्य की प्राचीनता सिद्ध होती है।

साख्य का यह सिद्धान्त है कि प्रकृति जड़ एवं अचेतन है तथा पुरुष चेतन,

<sup>1</sup> महाभारत 12/310/25 12/313

<sup>2</sup> महाभारत 12/301/103 12/326-328

<sup>3</sup> महाभारत 12/307/3 4 एवं 12/308/24 12/211/10

<sup>4</sup> महाभारत 12/291/297

<sup>5</sup> महाभारत 12/296/21

<sup>6</sup> महाभारत 12/308 एवं 12/298

<sup>7</sup> महाभारत 12/321

<sup>8</sup> महाभारत 12/332/339

<sup>9</sup> महाभारत 12/291/7 12/298/3 12/307 3

निष्क्रिय एवं उदासीन है, ज्यों का त्यों महाभारत में भी मिलता है। किन्तु यहाँ पर एक सर्वोच्च सत्ता के रूप में ईश्वर ब्रह्म या परमात्मा का वर्णन हुआ है। शुक एवं व्यास संवाद में कहा गया है— तेजोमय महत्तत्त्व स्वरूप ब्रह्म ही समस्त जगत् का बीज है।<sup>1</sup>

सत्त्वस्वरूप प्रकृति गुणों को उत्पन्न करती है। क्षेत्रज्ञ उसमें अधिष्ठित हुआ करता है और ईश्वर उदासीन भाव से इनका साक्षी बनता है।<sup>2</sup> इसी प्रकार अनेकशः ईश्वर या परमात्मा की चर्चा हुई है।<sup>3</sup> अज निसंग परमात्मा को षड्विंश कहा गया है। कहीं—कहीं प्रकृति—पुरुष दोनों को अनादि, अनन्त ईश्वर कहा गया है और सांख्य विचारकों द्वारा इनको तत्त्व संज्ञा से अभिहित किया गया है।<sup>4</sup> यहाँ द्वैतवाद का स्पष्ट संकेत मिलता है किन्तु महाभारत में प्रतिपादित सांख्य का मुख्यतः झुकाव ईश्वरवाद की ओर है। डॉ० दासगुप्त का मत है कि महाभारत में ही वर्णित पंचशिख का सिद्धान्त निरीश्वरवादी है।<sup>5</sup> प्रो० हिरियन्ना का मत है कि महाभारत में प्रतिपादित सांख्य विकसित नहीं है। उनकी धारणा है कि वहाँ ईश्वर को परमसत्ता के रूप में स्वीकार किए जाने के कारण अधिक सम्भावना इसी बात की है कि महाभारत में वर्णित सांख्य परवर्ती सांख्य का आद्यरूप ही है।<sup>6</sup> श्वेताश्वतर में सांख्य कपिल एवं सांख्य सम्बन्धी अन्य शब्दों से यही स्पष्ट होता है कि श्वेताश्वर से पूर्व सांख्य व्यवस्थित हो चुका था तथा महाभारत काल तक इसकी लोकप्रियता बढ़ गयी थी।

<sup>1</sup> महाभारत, 12/224/33

<sup>2</sup> महाभारत, 12/241/1

<sup>3</sup> महाभारत, 12/290/91, 109, 12/291/15, 12/295/26-22, 12/296/4

<sup>4</sup> महाभारत, 12/295/2, 12/240/21, 22, 12/303/12, 13

<sup>5</sup> Dr. S.N. Dass Gupta, History of Indian Philosophy, Vol. I

<sup>6</sup> प्रो० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 107

सांख्य दर्शन आस्तिक दर्शन है अथवा नहीं यह विवाद का विषय है। मनु के मत में वेद के प्रामाण्य को मानने वाला ही आस्तिक है।<sup>1</sup>

सांख्य आगम प्रमाणवादी है, इसीलिए वह आस्तिक दर्शन है। यद्यपि ईश्वरवादी विचारकगण सांख्य को आस्तिक दर्शन की परिधि में स्वीकार नहीं करते हैं।<sup>2</sup> सत्त्वादि गुणों के कारण ऊर्ध्वाधः लोको (परलोक अर्थात् पुनर्जन्म सम्बन्धी मत) की स्थिति सांख्य का विश्वास है। लेकिन यह सब सांख्य मत में त्रिगुण प्रकृति के अन्दर ही है, परम निःश्रेयस या कैवल्य की प्राप्ति त्रिगुण के त्याग पर ही प्राप्य है। प्रो० कीथ भी सांख्य को आस्तिक दर्शन मानते हैं। आचार्य पंचशिख ने महाभारत<sup>3</sup> में वेद निन्दक की आलोचना की है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार महाकाव्य में वर्णित सांख्य दर्शन ईश्वरवादी दर्शन है। परिणामस्वरूप आप चौबीस तत्त्वों वाले सांख्य को छब्बीस तत्त्वों वाले (26वें ईश्वर) दर्शन के बाद का मानते हैं।<sup>4</sup> लेकिन इसके विपरीत डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त 24 तत्त्व वाले सांख्य को ही सर्वप्राचीन मानते हैं। किन्तु तत्त्वों के आधार पर सांख्य की प्राचीनता सिद्ध करना अत्यन्त दुरुह है। प्रो० हिरियन्ना का मत है कि सांख्य आज एक जीवित विश्वास नहीं है।<sup>5</sup> यह ठीक है कि सृष्टि पदार्थों के आधुनिक संश्लेषण और विश्लेषण की पद्धति तथा अनुसंधान यंत्रों का ज्ञान आदि विद्वान कपिल महर्षि को भले ही न रहा हो, लेकिन यह कम आश्चर्य नहीं कि सांख्य और अर्वाचीन आधिभौतिकशास्त्र में तत्त्वतः समानता है। आज सृष्टि

<sup>1</sup> 'नास्तिको वेद निन्दक' — मनुस्मृति, 2/119

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2

<sup>3</sup> महाभारत, 12/218

<sup>4</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृष्ठ 219

<sup>5</sup> प्रो० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा

को सुसम्बन्ध किया जा सकता है, किन्तु यह भी सच है कि अव्यक्त प्रकृति से अनेक विध सृष्टि के निकास के विषय में कपिल की अपेक्षा कुछ अधिक बताया भी नहीं जा सकता है। इस स्थिति में भी सांख्य को एक जीवित विश्वास न मानते हुए उसकी प्राचीनता पर सन्देह करना असंगतपूर्ण तथ्य है।<sup>1</sup>

1.1 ग : भगवद्गीता में सांख्य सम्मत विचार स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त सत्कार्यवाद का स्पष्ट प्रमाण गीता में मिलता है—सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती।<sup>2</sup> गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलों पर सांख्य शब्द का उल्लेख किया है— 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।'<sup>3</sup> सांख्ययोगैः पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'<sup>4</sup> यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।<sup>5</sup> सांख्य शब्द का अर्थ गीता में ज्ञान मार्ग के अर्थ में किया गया है, किन्तु गीता में पुरुष, प्रकृति व गुणों का वर्णन हुआ है जो सांख्य के तत्त्वों के ही समान है। पुरुष या आत्मा का उल्लेख अनेक श्लोकों में आया है—पुरुष या आत्मा अविनाशी, अजर—अमर, और असंग हैं।<sup>6</sup> इसी प्रकार गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) के स्वरूप का वर्णन सांख्य सम्मत ही है।<sup>7</sup>

समस्त जगत् की सृष्टि क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से होती है<sup>8</sup> और सम्पूर्ण विकारों का आश्रय प्रकृति ही है। जिस प्रकार सांख्य का पुरुष प्रकृति के कार्यों को

<sup>1</sup> बालगंगाधर तिलक, गीता रहस्य, पृ० 152—153

<sup>2</sup> नासतो विद्यते भावो, श्रीमद्भगवद्गीता, 1/16

<sup>3</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 3/3

<sup>4</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 5/4

<sup>5</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 5/5

<sup>6</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 2/12, 17, 18, 20, 21, 23, 24, 25, 29

<sup>7</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 15/10—15

<sup>8</sup> यावत्संजाते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजंगम। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोगात्तत्तद्विद्धि—भारतवर्षभ : श्रीमद्भगवद्गीता, 13/26—27

अपना समझने लगता है उसी प्रकार गीता में भी वर्णन है, कर्तृत्व गुणों में ही है किन्तु अहंकार से मोहित हुआ आत्मा अज्ञानवश अपने को कर्त्ता मानता है।<sup>1</sup> “प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते।”<sup>2</sup> भगवद्गीता में जहाँ एक ओर प्रकृति पुरुष को अनादि व नित्य कहा गया है वहीं यह भी कि उन्हीं की अध्यक्षता में प्रकृति-चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस प्रकार गीता में वर्णित साख्य ईश्वरवादी है। गीता में साख्य के सदृश पुरुष बहुत्व को स्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि पुरुष का स्वरूप साख्य में वर्णित पुरुष तत्त्व से भिन्न नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पुरुष एवं प्रकृति के दर्शन एवं सिद्धान्त से गीताकार भलीभांति विज्ञ था, जिससे साख्य की प्राचीनता सिद्ध होती है।

पुराणों में भी कपिल एवं साख्य का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में प्रकृति को अव्यक्त, प्रधान, सूक्ष्म आदि नाम से व्यवहित किया गया है।<sup>3</sup> यह प्रकृति अक्षय, ध्रुव शब्द, स्पर्श से रहित और सभी का आश्रय है। यह त्रिगुणात्मिका उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान है।<sup>4</sup> विष्णुपुराण का यह वर्णन साख्य के अनुरूप है क्योंकि साख्य में भी प्रकृति को अव्यक्त, प्रधान, अक्षर आदि रूप में वर्णित किया गया है। भागवतपुराण के तीसरे स्कन्ध के 26वें अध्याय में प्रकृति को त्रिगुणमयी नित्य, अव्यक्त तथा कार्यकारणरूपा कहा गया है। प्रकृति तथा 23 व्यक्त तत्त्वों के अतिरिक्त

<sup>1</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 13/20-21

<sup>2</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 13/27

<sup>3</sup> अव्यक्त कारण यत्प्रधानमृजिसक्ष्मै ।

प्रोच्यते प्रकृति सूक्ष्मानित्य सदसदात्मकम् ॥ विष्णुपुराण 1/2/19

<sup>4</sup> विष्णुपुराण 1/2/20-22



‘काल’ पच्चीसवाँ तत्त्व है। यह साम्यावस्था रूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न करने वाला भगवद्रूप माना गया है।<sup>1</sup> काल का इस प्रकार वर्णन परवर्ती सांख्य में नहीं मिलता। विष्णुपुराण<sup>2</sup> में प्रधान एवं पुरुष को भगवान विष्णु का ही रूप कहा गया है।<sup>3</sup> द्वितीय अध्याय की समाप्ति तक सांख्य सिद्धान्तानुसार प्रकृति महत् आदि की उत्पत्ति का क्रम पूर्वक वर्णन है। अग्निपुराण, मत्स्यपुराण<sup>3</sup> एवं पद्मपुराण (2/6/25) में सांख्यानुसार सर्गोत्पत्ति का वर्णन है। वायुपुराण के सृष्टि प्रकरण (4, 5 अध्याय) में और स्कन्दपुराण के माहेश्वरखण्ड के अन्तर्गत कौमारिका खण्ड में (37/6-11) प्रकृति-पुरुष का उल्लेख है।

वायुपुराण में सृष्टि क्रम का भी वर्णन मिलता है तथा प्रकृति को गुण कारण बताया गया है। जो कुछ भी भौतिक है वह प्रकृति से ही उत्पन्न है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्मखण्ड (3/4, 5) में संसार के कारण रूप तीन गुणों का उल्लेख किया गया है। प्रकृति खण्ड में प्रकृति के स्वरूप का एक विशिष्ट रीति से वर्णन है। देवीभागवत् पुराण<sup>4</sup> में ‘सांख्या वदन्ति पुरुष प्रकृतिं च यां तां चैतन्यभावरहितां जगत्स्य कर्त्रीम्’ के द्वारा प्रकृति को अचेतन तथा जगत्कर्त्री कहकर सांख्य की सहमति का प्रकट किया गया है। देवी भागवत्पुराण में सांख्य को परमज्ञान तथा सर्व अज्ञाननाशक बताया गया है।

पुराणों में प्रतिपादित सांख्य ईश्वरवादी ही है। प्रकृति और पुरुष की वर्चा

<sup>1</sup> भागवत्पुराण : 3/26/17

<sup>2</sup> तदेव सर्वमेवैतदव्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्  
तथापुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥ -विष्णुपुराण

<sup>3</sup> अग्निपुराण, 69/1-5 (4) 221-229, अध्याय-अग्निपुराण, मत्स्यपुराण 3/14, 29

<sup>4</sup> देवीभागवत् पुराण : 1/7/29

जिन पुराणों में हुयी है उन्हें ईश्वराश्रित ही बताया गया है। नित्य और स्वतन्त्र होते हुए भी ये परमात्म के प्रेरणा के बिना कोई भी कार्य नहीं कर सकते। जगत् की रचना में परमात्मा की प्रेरणा को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। भागवत् पुराण में अव्यक्त पुरुष को प्रकृति का साक्षी और काल को साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न करने वाला पुरुष रूप भगवान माना गया है। इन सभी तत्त्वों में भगवान् अपनी माया के द्वारा व्याप्त है। वह सब प्राणियों में जीवरूप से और सर्वत्र कर्त्तृक रूप में व्याप्त हैं। परमात्मा की ईक्षणशक्ति द्वारा ही ससारचक्र चलता रहता है। सर्वात्मा परमेश्वर इतना समर्थ है कि अपनी सन्निधि मात्र से प्रकृति-पुरुष का प्रेरित करता है।<sup>1</sup> ब्रह्मपुराण, वायुपुराण एवं भागवतपुराण में भी ईश्वर द्वारा प्रेरित प्रधान से जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

सांख्यीय तत्त्वों का उल्लेख स्मृतियों में भी प्राप्त होता है। मनुस्मृति में सांख्यशब्द का उल्लेख रहने पर भी सत्त्व, रजस् और तमस् का वर्णन 1/76 इसी स्मृति में 1/76 श्लोक की व्याख्या करते हुए मेघातिथि ने सांख्य सिद्धान्त के अस्तित्व को स्वीकार किया है।<sup>2</sup> विष्णुस्मृति में भी चौबीस तत्त्वों की पुरुष सङ्गति व त्रिगुणों का भी निर्देश है। शंखस्मृति<sup>3</sup> तथा याज्ञवल्क्य स्मृति (3/179) में भी सांख्यीय तत्त्वों का वर्णन हुआ है। पंचरात्रागम से सम्बन्धित 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में सांख्य का प्रसंगत उल्लेख हुआ है, सांख्य का वर्णन इसमें इस प्रकार हुआ है 'जगत्

<sup>1</sup> वायुपुराण : 1/230

<sup>2</sup> मनुस्मृति, 1/5 से 19 एवं 27, 36

<sup>3</sup> "आकाशान्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः" की व्याख्या "विकुर्वाणादहकारात् आकाशस्तस्माद्वायुः" करते हुए मेघातिथि ने सांख्य सिद्धान्त के अस्तित्व को सिद्ध किया है। 1/76-68

<sup>4</sup> शंख स्मृति-7/21-25

का मूल कारण प्रकृति है, प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है।<sup>1</sup> पुरुष कूटस्थ और एक है, जो सब पुरुषों की समष्टि है।<sup>2</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतियों में उल्लिखित सृष्टि प्रक्रिया से सम्बन्धित तत्त्वों का साम्य सांख्य से दिखाई देता है, जो सांख्य की प्राचीनता को और स्पष्ट करता है।

इस प्रकार महाभारत पुराण, गीता आदि में प्रकृति को परमेश्वर से अभिन्न बताते हुए उसका ही एक रूप या अंश अथवा उससे ही उत्पन्न माना गया है। यही कारण है कि अनेक विद्वान इस सांख्य परंपरा को विशुद्ध मौलिक सांख्य मानने से इंकार करते हैं। इस विषय में लोकमान्य तिलक का मत है कि :- “महाभारत में सांख्य मत का निर्णय कई अध्यायों में किया गया है। परन्तु उसमें वेदान्त मतों का भी सम्मिश्रण हो गया है। इसीलिए सांख्य के शुद्ध सांख्यमत को जानने के लिए दूसरे अन्य ग्रंथों को भी देखने की आवश्यकता है। इस काम के लिए उक्त सांख्यकारिका की अपेक्षा कोई भी अन्य अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं है।<sup>3</sup> और आगे भी कहते हैं गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की छाप लगी हुयी है।<sup>4</sup> उक्त मत का समर्थन करते हुए प्रो० गार्बे भी मानते हैं कि सांख्य एक स्वतंत्र मष्तिष्क की उपज होने के साथ-साथ महाभारत की रचना के पूर्व ही विकसित हो चुका था।<sup>5</sup> प्रो० जैकोबी सांख्यदर्शन को भौतिकवादी मानते हुए इसका विकास औपनिषदीय परम्परा से मानने का विरोध करते हैं, लेकिन डॉ० कीथ

<sup>1</sup> अन्यूनानतिरिक्त यदगुणसाम्य तमोमय ॥

तत्सांख्यैजगतो मूल प्रकृतिश्चेति कथ्यते ॥ – अहिर्बुध्न्य संहिता, 7/1

<sup>2</sup> समष्टि पुरुषो योनि स कूटस्थ इतीर्यते। – अहिर्बुध्न्य संहिता, 7/2

<sup>3</sup> बालगंगाधर तिलक, गीता रहस्य—पृ० 161

<sup>4</sup> बालगंगाधर तिलक, गीता रहस्य—पृ० 165

<sup>5</sup> Pro. Garbe, Samkhya philosophy. PP. 54-59.

इसके विरुद्ध कहते हैं, स्पष्टतः सांख्यविशुद्ध अमिश्रित भौतिकवादी विचारधारा से कदापि कथमपि विकसित नहीं हो सकता। इसका जन्म तथा विकास ऐसे भौतिकवाद से मानना पड़ेगा जिसका पूरक आध्यात्मवाद रहा हो। इस प्रकार फिर वही समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि भौतिक तत्त्वों के विरुद्ध पुरुषों की सत्ता स्थापित करने वाली विचारधारा कहाँ से आई? इसका सरल और स्पष्ट उत्तर है कि यह विचारधारा उपनिषदों से विकसित हुई है।<sup>1</sup>

अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में हमें महात्माबुद्ध तथा उनके भूतपूर्व शिक्षक 'अराड' की भेंट का वर्णन मिलता है, जो सांख्य सिद्धान्तों को मानता था। यद्यपि उनमें ईश्वरवादिता का प्रभाव था। यह अधिक संभव प्रतीत है कि सांख्य का सबसे पूर्व का रूप एक प्रकार का यथार्थवादी ईश्वरवाद था जो उपनिषदों के विशिष्टाद्वैत के समीप पहुँचता है। सांख्य के इस प्रकार के रूप को तो उपनिषदों के उपदेशों का युक्तियुक्त परिष्कृत रूप माना जा सकता है। किन्तु द्वैतवादी सांख्य को जो पुरुषों के अनेकत्व तथा प्रकृति की स्वतंत्रता पर बल देता है, और परमतत्त्व के वर्णन को बिल्कुल छोड़ देता है, उपनिषदों की शिक्षाओं के अनुरूप किसी भी अवस्था में नहीं कहा जा सकता। प्रश्न उठता है कि सांख्य ने तो परमतत्त्व के सिद्धान्त को सर्वथा छोड़ दिया, वह कैसे हुआ, क्योंकि इसको साथ लेकर ही तो सांख्य दर्शन को संतोषजनक माना जा सकता था। बौद्धदर्शन के उदय के पश्चात् तक सांख्य ने एक सुव्यवस्थित दर्शन का रूपधारण नहीं किया था। जब बौद्ध धर्म ने यथार्थवाद को चुनौती दी, तो सांख्य ने उस चुनौती को स्वीकार किया। परिणाम स्वरूप सांख्य ने

<sup>1</sup> Dr. Keith, Samkhya system, PP. 58, डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 217

आत्माओं तथा प्रमेय पदार्थों की यथार्थता के पक्ष में युक्तियुक्त आधार पर तर्क उपस्थित किया। जब इस दर्शन का विकास विशुद्ध युक्तियुक्त आधार पर हुआ तो इसे बाध्य होकर यह स्वीकार करना पड़ा कि ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है।<sup>1</sup>

ब्रह्मसूत्र के रचनाकार महर्षि वादरायण और उसके भाष्यकार शंकराचार्य ने तर्कवाद में सांख्य का युक्तिपूर्वक खण्डन करने के साथ कई स्थानों पर सांख्य के उपनिषद् मूलक होने का खण्डन किया है।<sup>2</sup>

शंकराचार्य सांख्य को वेदान्त 'प्रधानमल्ल' (प्रमुख प्रतिपक्षी) मानते हैं। उनके अनुसार सांख्य द्वैतवादी होने के कारण श्रुतिमूलक (उपनिषद्) नहीं है। इस खण्डन विवाद का कारण ऐसा लगता है कि सांख्य इसके पूर्व श्रुतिमूलक माना जाता रहा हो। अतः संभावना है कि सांख्य अपने प्रारंभिक रूप में श्रुतिमूल और ईश्वरवादी रहा हो। बाद में बौद्ध-जैन के प्रभाव के कारण निरीश्वरवादी और वास्तुवादी हो गया हो।<sup>3</sup> यद्यपि सांख्य निरीश्वरवादी और द्वैतवादी भले हो गया हो। लेकिन (14वीं-16वीं शदी) में सांख्य को उसके श्रुतिमूलक होने की धारणा शंकराचार्य के एक अन्य खण्डन विद्या में झलकती है।<sup>4</sup> यह अवश्य है कि सांख्य मत का जो एक मात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है, वह सांख्यकारिका है। जो द्वैतवादी, निरीश्वरवादी और वास्तुवादी सांख्य का उल्लेख करती है, फिर सांख्य परम्परा उपनिषदीय परंपरा से भी पुरानी थी। अतः उसके कुछ मामलों में उत्तर होना स्वाभाविक है। एक लम्बे

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 219

<sup>2</sup> ब्रह्मसूत्रभाष्य - 1/4/1-3, 1/1/5-11 2/1/1-3

<sup>3</sup> सी० डी० शर्मा, भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 267

<sup>4</sup> ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2/2/1-10

समयोपरान्त साख्य प्रवचनसूत्र और उसके भाष्य 14वीं-16वीं सदी में साख्य को ईश्वरवादी मानने की वकालत की गयी थी।

स्पष्ट है कि साख्य के प्रारम्भिक स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है। किन्तु यह सच है कि साख्य दर्शन अपने अस्पष्ट वैज्ञानिक स्वरूप के साथ अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रहा है। फिर भी किसी अकाट्य प्रमाण के अभाव में इसका उद्भव काल का निर्धारण मुश्किल ही नहीं अपितु असम्भव भी प्रतीत होता है।

12 . साख्यशास्त्र का प्रणयन कपिल नामक विद्वान् आचार्य ने किया था किन्तु वह कपिल कौन थे, इस विषय में विद्वानों में मतभेद नहीं है। “साख्यस्ववक्ता कपिल” एवं “पचमो नाम सिद्धेश काल विप्लुतम्। प्रोवाचासुरये साख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्।” आदि के रूप में अभिव्यक्त परम्परागत मान्यता के अनुसार साख्य के प्रथम आचार्य महामुनि कपिल माने जाते हैं। श्रीमद्भागवत<sup>1</sup> के अनुसार कपिल के पिता का नाम कर्दम और माता का नाम देवहूति था। कपिल महात्मा बुद्ध से बहुत पूर्ववर्ती माने गये हैं क्योंकि गौतमबुद्ध ने साख्यदर्शन की परंपरा के एक आचार्य, आचार्य आराड कालाम से साख्य का उपदेश ग्रहण किया था। कुछ विद्वान् कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। कोलब्रुक, जैकोबी, मैक्समूलर<sup>2</sup>, कीथ<sup>3</sup> प्रो० रानाडे<sup>4</sup> पुलिन बिहारी चक्रवर्ती<sup>5</sup> प्रो० गोपीनाथ कविराज, डॉ० हरदत्त शर्मा आदि के मत इस विषय में

<sup>1</sup> श्रीमद्भागवत 3/24

<sup>2</sup> R. Garbe Samkhya yoga, PP 2 – 3

Dr Keith, Samkhya system, PP 9

<sup>4</sup> Pro Ranade-----Constructive Survey of Upnistic Philosophy

<sup>5</sup> Pulin Bihari Chakravarti, Origin and Development of the Samkhya system of thought, PP 111

अभिप्रेत हैं।<sup>1</sup>

भारतीय इतिहास में कपिल नामक कई व्यक्ति हुए हैं। कपिलवस्तु को बसाने वाला कपिल प्रह्लादपुत्र असुर कपिल, धर्मस्मृतिकार कपिल, उपपुराणकार कपिल, विश्वामित्र पुत्र कपिल आदि। परन्तु इनमें से कोई भी सांख्य का प्रवर्तक कपिल नहीं है। इसके अतिरिक्त विष्णु~~वा~~वतार कपिलाः अग्न्य~~वा~~वतार कपिल, ब्रह्मसुत कपिल का उल्लेख भी मिलता है।

डॉ० कीथ का मत है कि कपिल काल्पनिक व्यक्ति का नाम है। कपिल पद हिरण्यगर्भ का पर्याय है और अग्नि विष्णु तथा शिव आदि के साथ (कपिल) हिरण्यगर्भ की एकात्मकता का भी उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है इसलिए कहा जा सकता है कि सांख्य प्रवर्तक कपिल नामक कोई व्यक्ति पृथ्वी पर कभी अवतीर्ण ही नहीं हुआ।<sup>2</sup>

पं० गोपीनाथ कविराज जी ने भी सांख्यकारिका की जयमंगला टीका की स्वलिखित भूमिका में कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह व्यक्त किया है।<sup>3</sup> कपिल का नामोल्लेख श्रुति, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि में हुआ है किन्तु संस्कृत साहित्य में अनेक कपिल नामक पुरुषों का वर्णन होने से सांख्य-प्रवर्तक “कपिल” के विषय में अनेक भ्रामक धारणायें प्रचलित हैं कि वे काल्पनिक व्यक्ति थे या विष्णुवावतार अग्न्यावतार या ब्रह्मसुत कपिल सांख्य दर्शन के प्रणेता थे।

श्वेताश्वतर उपनिषद्<sup>4</sup> में कपिल का उल्लेख मिलता है। आचार्य शंकर का इस

<sup>1</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० 21

<sup>2</sup> Dr. Keith, Sankhya System, P-9

<sup>3</sup> पं० गोपीनाथ कविराज, जयमंगला टीका, सांख्यकारिका, पृ० 2 – 3

<sup>4</sup> ‘ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे’ (श्वेताश्वतरोपनिषद्, मंत्र, 5/2 उत्तरार्द्ध),

विषय में मत है कि “ऋषि प्रसूत इत्यादि मंत्र में कपिल का सामान्यरूप से ही कथन हुआ है अतः यहाँ कपिल का अर्थ साख्य प्रवर्तक कपिल नहीं है। केवल शब्द मात्र के सादृश्य के आधार पर अवैदिक साख्यमत का प्रतिपादन करने वाले कपिल का ही श्रुति में कथन हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता।<sup>1</sup> श्रुति में आये कपिल पद का अर्थ शकराचार्य हिरण्यगर्भ करते हैं (सुवर्ण सदृश कपिल वर्ण या कनक वर्ण)<sup>2</sup> गोविन्दानन्द ने अपनी रत्नप्रभा नामक टीका में कपिल की व्याख्या की है। उनका कथन है—कपिल शब्द मात्र से साख्य प्रणेता कपिल मुनि का ग्रहण कर लेना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि वे द्वैतवादी हैं। सर्वज्ञता से सम्पन्न कहे जाने के कारण कपिल मुनि भगवान् वासुदेव के अंश ही हैं वही सर्वात्मत्व ज्ञान रूप वैदिक ज्ञान के उपदेष्टा थे। इस प्रकार गोविन्दानन्द के अनुसार अवैदिक साख्य के उपदेष्टा (प्रधान कारणवाद) एवं वैदिक साख्य के प्रणेता दोनों का ही नाम कपिल है, किन्तु वैदिक साख्य के प्रवर्तक कपिल ही विष्णु के अवतार थे।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि सृष्टि के आदिकाल में विष्णु अवतार कपिल नामक कोई ऋषि हुए जिनका सम्बन्ध साख्य दर्शन से था। महाभारत में कपिल का वर्णन शान्तिपर्व एवं वनपर्व में हुआ है। सगरोपाख्यान में कपिल को वासुदेव कहा गया है।<sup>3</sup> सगरपुत्रों को भस्म करने वाली कपिल सम्बन्धी घटना का बाल्मीकि रामायण में भी विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। कपिल के लिए रामायण में भी

<sup>1</sup> यास्तु श्रुति कपिलस्य ज्ञानातिशय प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तथा श्रुतिविरुद्धमपि कपिल मत श्रद्धातुं शक्यम्।  
2/1/1, ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य

<sup>2</sup> कपिल कनककपिलवर्ण प्रसूत स्वेनेवोपादित हिरण्यगर्भ जनयामास पूर्वम्, श्वेताश्वतर उपनिषद् 5/2 पर शाकरभाष्य

<sup>3</sup> वासुदेवेति य प्राहु कपिल । -वनपर्व-1/7/32 पूर्वार्द्ध



वासुदेव एव सनातन विशेषण आये है।<sup>1</sup> महाभारत के शान्ति पर्व, मोक्षधर्म प्रकरण (नारायणीयोपाख्यान) में नारायण नारद सवाद में भगवान् नारायण कपिल को साख्य्याचार्य कहते हैं।<sup>2</sup> इसी प्रकार वैशम्पायन राजा जनमेजय से विभिन्न मतों का वर्णन करते हुए साख्यवक्ता के रूप में कपिल को स्मरण करते हैं।<sup>3</sup> भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—सिद्धाना कपिलो मुनि<sup>4</sup> इसस कपिल मुनि के विषय में स्पष्ट होता है कि वे सशरीर विद्यमान थे और उन्होंने सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त की थी।

दवीभागवत् पुराण में 'कपिल' शास्त्रमाप्यात सर्वाऽज्ञाननाशनम्' में कपिल एव उनके शास्त्र की प्रशंसा की गयी है। विष्णुपुराण<sup>5</sup> वायुपुराण<sup>6</sup> 'पद्मपुराण'<sup>7</sup> (सृष्टिखण्ड) तथा स्कन्दपुराण (रेवाखण्ड)<sup>8</sup> में स्पष्ट शब्दों में कपिलमुनि को भगवान् विष्णु का अंश कहा गया है। और यही कपिल साख्य के प्रवर्तक कहे गए हैं। अहिर्बुध्न्यसहिता साख्यमत के प्रतिपादन का श्रेय विष्णु के अवतार रूप कपिल को देती है।<sup>9</sup>

साख्यकारिका ईश्वरकृष्ण 69वीं काण्डिका में कहते हैं महर्षि कपिल ने पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाला अत्यन्त गुह्य, पवित्र एवं श्रेष्ठ ज्ञान को दयावश आसुरि को दिया था।<sup>10</sup> साख्यकारिका की प्राचीन टीका माठरवृत्ति में भी महर्षि कपिल को प्रजापति कर्दम एवं देवहूति का पुत्र तथा नारायण का अवतार कहा गया है। इन्होंने

पाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग (40/25) ते तु सर्वे - अतमानाभ्य वेगा महाबला ददृश कपिल तत्र वासुदेव सनातनम् ।

<sup>1</sup> कपिल प्राहुराचार्या साख्यनिश्चितनिशेधा महाभारत 12/231

<sup>2</sup> साख्यस्यवक्ता कपिल परमर्षि स उच्यते। महाभारत 12/338

<sup>3</sup> श्रीमद्भगवद्गीता-10/26

<sup>4</sup> कपिलविर्भगवत् सर्वभूतस्य वे द्विज। विष्णारशो जगमोह- शयोर्वीमुपागत। विष्णुपुराण 12/14/9

<sup>5</sup> विष्णु कपिलरूपेण हस नारायणम् प्रभुम्। वायुपुराण 88/143-147

<sup>6</sup> पद्मपुराण 8/147-2/6-25

<sup>7</sup> स्कन्द पुराण 175/2-7

<sup>8</sup> अहिर्बुध्न्यसहिता-11/24 11/59 11/18

<sup>9</sup> पुरुषार्थ ज्ञानमिदं गुह्य परमर्षिणा समाख्यातम्। (पूर्वार्द्ध अरिका-69)

एतत् पवित्रमग्रय मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। (अरिका-70 पूर्वार्द्ध)

अज्ञान सागर में डूबे हुए जन का उद्धार करने के लिए साख्यशास्त्र रूपी नौका तैयार की थी।<sup>1</sup>

महर्षि कपिल के सम्बन्ध में महाभारत में ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनमें कपिल अग्नि के अवतार सिद्ध होते हैं।<sup>2</sup> वायुपुराण में भी कपिल को अग्नि कहा गया है।<sup>3</sup> द्वाविंशतिसूत्री तत्त्वसमास की सर्वोपकारिणी नामक टीका में भी महाभारत की ही भांति दो कपिलों का उल्लेख हुआ है—(1) तत्त्वसमास के रचयिता भगवान् विष्णु के अवतार, देवहूति एवं कर्दम प्रजापति के पुत्र कपिल, तथा (2) साख्यसूत्रषड्ध्यायी के रचयिता अग्नि के अवतार कपिल। महाभारत में एक स्थान पर इन्हें ब्रह्मा जी के सप्तमानस पुत्रों में से एक कहा गया है। अगले श्लोक में इन सातों को साख्य विशारद एवं मोक्षधर्म प्रवर्तक कहा गया है। महाभारत के सदृश ही गौडपाद ने भी साख्यकारिका के भाष्य में ब्रह्मसूत कपिल को ही साख्योपदेष्टा माना है।<sup>4</sup> विज्ञान भिक्षु ने साख्यसूत्र में प्रवचन भाष्य के अन्त में इस विरोध का परिहार करते हुए कहा है कि दो कपिलों की धारणा व्यर्थ एवं दोषपूर्ण है।<sup>5</sup>

उन्होंने विष्णु/ब्रह्मसूत कपिल को ही साख्यशास्त्र का प्रवर्तक माना है। अग्नि

<sup>1</sup> कपिलाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधोजगतिमग्ने। करुण्यात् साख्यमयी नोरिह विहिता प्रतरणाय। (मगलाचरण/2)  
इह हि भगवान् महर्षि

सासिद्धिकधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नो भगवत् पुराणपुरुषस्यावतारो  
जगतदनुजिधृक्षपा प्रजापते कर्दमस्य पुत्र स्वयम्भुवस्य मनोर्दुहितारि देवहूत्या।  
कपिलो नाम बभूव। माठरवृत्ति पृ० 2

<sup>2</sup> महाभारत—वनपर्व 221/21

<sup>3</sup> आदित्यसङ्ग कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृत, वायुपुराण 5/45

<sup>4</sup> इह भगवान् ब्रह्मसूत कपिलोनाम। तद्यदा सनकश्च, सनन्दश्च तृतीयश्च सनातन।  
आसुरि कपिलश्च वोढु पचशिखस्तथा। इत्येते ब्राह्मण पुत्रा सप्तप्रोक्ता महर्षयः।  
—आचार्य गौडपाद साख्य कारिका पर भाष्य।

<sup>5</sup> उदयवीर शास्त्री, साख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 5

स कपिलो नाम सांख्यशास्त्र प्रवर्तकः' इत्यादि महाभारत के वचन का तात्पर्य यह है कि अग्नि नामक शक्ति का आवेश होने के कारण यत्र-तत्र उनका अग्नि नाम से उल्लेख हुआ है अथवा अत्यधिक तेजस्विता के कारण ही उन्हें अग्नि कहा गया होगा।

कपिल को ब्रह्म सुत भी कहा जाता है। सम्भवतः ब्रह्मा के समान अपूर्व वैदुष्य उनमें रहा होगा। भागवतपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा ने इनके जन्म के समय स्वयं उपस्थित होकर कर्दम ऋषि से इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ बताया था। यह भी सम्भव है कि ब्रह्मा जी से इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ है।

कपिल काल्पनिक व्यक्ति थे या ऐतिहासिक इस पर विवाद रहा है। योगसूत्र (1 / 25) के व्यासभाष्य में एक उद्धरण प्राप्त होता है, जिसे वाचस्पति पंचशिख का कहते हैं, वह इस प्रकार है - "आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद भगवान्परमर्षिः, असुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रावचति।" 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' के आधार पर ही अनेक विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि कपिल का कोई भौतिक शरीर नहीं था इसलिए वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे। पंचशिख के उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति जी जो लिखते हैं उसका सार यही है कि कपिल हिरण्यगर्भादि ने जीवों के कल्याण के लिए सर्ग के आदि में जिस ज्ञान का उपदेश दिया वे उन्हें परमेश्वर के अनुग्रह से प्राप्त हुआ है।<sup>1</sup> कपिल केवली मात्र थे, ईश्वर नहीं क्योंकि इस तन्त्र में मान्य ईश्वर अवतार ग्रहण नहीं करता है।<sup>2</sup>

<sup>1</sup> डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, योगसिद्धि नामक व्याख्या, पृ० 91

<sup>2</sup> डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, योगसिद्धि नामक व्याख्या, पृ० 91

साख्यकारिका 43' की व्याख्या में सांसिद्धिक भावों का उदाहरण देते हुए कपिल के विषय में वाचस्पति मिश्र जी ने जो लिखा है संक्षेपतः उसका भाव यही है कि 'आदि विद्वान्' 'महामुनि' कपिल सृष्टि के आदि काल में उत्पन्न हुए थे। भागवत् पुराण में भगवान् कर्दम ऋषि से कहते हैं कि आत्मज्ञान का मार्ग (साख्यशास्त्र) बहुत समय से लुप्त हो गया है। उसे पुनः प्रारम्भ करने के लिए मैंने यह देह धारण की है।<sup>1</sup> देह धारण करने का तात्पर्य है कि भौतिक रूप से उनका अस्तित्व था इसलिए वे काल्पनिक व्यक्ति नहीं हो सकते। सांख्ययोग के अनुसार सभी शरीरों की प्रकृति पृथ्वी आदि भूत है और समस्त इन्द्रियों की प्रकृति 'अस्मिता' अहंकार है। सिद्ध योगी भी आयोनिज देहों की रचना पृथ्वी आदि भूतों से ही करते हैं अन्य किसी तत्त्व से नहीं। इसलिए उनके भी निर्माणकाय भौतिक ही होते हैं अभौतिक नहीं।<sup>2</sup> भगवान् कपिल में जन्मतः सिद्ध ज्ञान धर्मादि के कारण इन्हें श्रद्धालु ऋषियों ने हिरण्यगर्भ नाम से भी सम्मानित किया है। किन्तु इन अर्थों से यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि महर्षि कपिल काल्पनिक व्यक्ति थे।

1.2 क : महर्षि कपिल के समय का निश्चित रूप से निर्देश करना अत्यन्त ही दुरुह कार्य है जैसा कि साख्यशास्त्र के ऐतिहासिक विवरण से इस शास्त्र के प्रवर्तक का काल भी अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् व कठोपनिषद् साख्यशास्त्र के विचारों से प्रभावित होते हैं। यदि कठोपनिषद् के विषय में यह मान लें कि इस उपनिषद् का ही साख्य पर प्रभाव पड़ा तो भी इस शास्त्र के प्रवर्तक का

<sup>1</sup> एष आत्मपथ अव्यक्तं नष्टं कालेन भूयसा।

तमं प्रवर्तयितुं देहम् इमम् विद्धि मयामृतम्।

<sup>2</sup> आद्याप्रसाद मिश्र साख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृष्ठ 53

समय साख्यशास्त्र से बाद का नहीं हो सकता। श्वेताश्वर में कपिल एवं साख्य का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख हुआ है। ये उपनिषदें प्राचीनतम उपनिषदों बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य से बाद की हैं। कपिल का काल श्वेताश्वतर के आविर्भाव से पूर्व ही रखा जा सकता है।

प्रो० विटरनित्ज के अनुसार इसकी रचना बुद्ध से पूर्व हो चुकी थी।<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन भी कपिल का काल बुद्ध से पूर्व मानते हैं।<sup>2</sup> श्रीमद्भागवत् पुराण के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि कर्दम प्रजापति का आश्रम सरस्वती नदी के तट बिन्दुसरस के समीप कहीं था।<sup>3</sup> शतपथ ब्राह्मण में सरस्वती विनशन का उल्लेख मिलता है।<sup>4</sup> पद्म पुराण में भी इस घटना का उल्लेख है।<sup>5</sup> अतः कपिल का समय उसी प्राचीन काल में मानना चाहिए जबकि सरस्वती नदी अविरल रूप से प्रवाहित हो रही थी। इतिहासकारों ने सरस्वती नदी के सूखने की घटना को 25 हजार वर्ष पूर्व माना है। उससे पहले ही कर्दम ऋषि का आश्रम सरस्वती नदी के तट पर रहा होगा।<sup>6</sup> भागवत् पुराण में कपिल को पाचवाँ अवतार मानने से भी इस बात की पुष्टि होती है कि वर्तमान कल्प के किसी आदिम युग में किसी समय कपिल मुनि अवतीर्ण हुए थे।<sup>7</sup> विष्णु पुराण के कपिल विषयक, “कृते युगे पर ज्ञान कपिलादि स्वरूप धृत। ददाति सर्व भूताना सर्वभूतहिते रत।” इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि इनका जन्म कृ

<sup>1</sup> Prof Winternitz, A History Of Indian Literature, Vol 4, P 237

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग-2 पृ० 252

<sup>3</sup> तत कर्दम आश्रम पद्म सरस्वत्या परिश्रितम्। स्वयम्भू साकमऋषिभि मरीचि आदिभि नम्ययात।

—भागवत् पुराण 3/24/9

<sup>4</sup> शतपथ ब्राह्मण-1/4/2/10-17

<sup>5</sup> पद्मपुराण सृष्टि खण्ड-18/159-200

<sup>6</sup> उदयवीर शास्त्री साख्यदर्शन का इतिहास पृ० 42

<sup>7</sup> डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र साख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा पृ० 70

तयुग (सतयुग) में किसी समय हुआ होगा। अहिर्बुध्न्यसहिता के अनुसार कपिल का जन्म त्रेता के आदि काल में हुआ था।<sup>1</sup> यद्यपि कपिल के जन्म के समय के विषय में उक्त विरोध परिलक्षित होता है किन्तु उससे उनकी प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

12 ख महर्षि कपिल की वास्तविकता का संक्षेपत विचार कर चुकने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि उनके द्वारा आसुरि को साख्यशास्त्र का जो ज्ञान दिया गया वह किस नाम से प्रसिद्ध हुआ, अथवा कपिल ने उपदेश मौखिक दिया या लिखित? क्या वह ग्रन्थ 'साख्य प्रवचनसूत्र' नामक छ अध्यायो वाला ग्रन्थ ही तो नहीं था? अथवा वह ग्रन्थ साख्य दर्शन का सर्वाधिक प्रसिद्ध किन्तु इस समय लुप्तप्राय ग्रन्थ 'षष्टितत्र' ही था। आज इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर दे पाना असम्भव है, क्योंकि इस विषय में प्रमाण नहीं मिलते।

योगसूत्र के व्यासभाष्य में आये पचशिख के प्रसिद्ध कथन "आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।"<sup>2</sup> में कपिल के उपदेश के लिए तन्त्रशब्द का प्रयोग हुआ है ईश्वरकृष्ण विरचित साख्यकारिका द्वारा इस मत की पुष्टि होती है— पुरुषार्थ । पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।<sup>3</sup> और एतत् पवित्र्यमग्रयं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ आसुरिरपि पचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्।<sup>4</sup>

71वीं एवं 72वीं कारिका में आगे कहा गया है शिष्य परंपरा द्वारा यह ज्ञान ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने 70 कारिकाओं द्वारा संक्षेप में प्रस्तुत किया।

<sup>1</sup> अहिर्बुध्न्यसहिता 3/2/54

<sup>2</sup> योगसूत्र 1/25 व्यास भाष्य

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका 69

<sup>4</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका-70

इन 70 आर्याओ में निःसन्देह षष्ठितन्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का ही निरूपण हुआ है। केवल आख्यायिकाओं एवं परमत खण्डन को छोड़ दिया गया है।<sup>1</sup> पचशिख और ईश्वरकृष्ण के द्वारा कथित तन्त्र शब्द का प्रयोग षष्ठितन्त्र के लिए ही किया गया है। पूरे नाम के लिए आधे पद का प्रयोग व्यवहार में ही नहीं अपितु साहित्य में भी मिलता है। ईश्वरकृष्ण ने पूरे नाम के लिए आधे नाम का ही प्रयोग कई स्थानों पर किया है।<sup>2</sup> उदाहरणार्थ तस्मादपि षोडशकात् पचम्य पचभूतानि इस कारिका का युक्तिदीपिकाकार अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं—पूर्वपदलोपेनात्र महाभूतानीति वक्तव्य भूतानीत्युच्यते। भूतसंज्ञा हि तन्मात्राणां न पृथिव्यादीनाम्। इस प्रकार तन्त्र का प्रयोग ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका में और पचशिखसूत्र में षष्ठितन्त्र के लिए ही किया है।<sup>3</sup> युक्तिदीपिका में कहा गया है कि साख्यकारिका के विषय परमर्षि प्रणीत (षष्ठितन्त्र) तन्त्र का आदर्शगत बिम्ब अर्थात् प्रतिबिम्ब है। शंकराचार्य ने भी षष्ठितन्त्र को कपिल प्रणीत माना है।<sup>4</sup> वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार आचार्य भास्कर ने भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दों में षष्ठितन्त्र को कपिल की रचना कहा है।<sup>5</sup> कल्पसूत्र नामक जैनग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में महावीर स्वामी की 'सट्ठितन्त्र विसारण' कहा गया है। व्याख्याकार यशोविजय ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है—षष्ठितन्त्र कपिलशास्त्र तत्र विशारद पण्डित' इससे यह प्रतीत होता है कि महावीर स्वामी ने

<sup>1</sup> सप्त्याकिल येऽर्थाकृतस्य षष्ठितन्त्रस्य

आख्यायिकाविरहिता परवादविवर्जिताश्चापि॥ साख्यकारिका-72

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका-22 का उत्तरार्द्ध

<sup>3</sup> तत्त्वजिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनि । यदुवाच महत्तत्र दुःखत्रयनिवृत्तये ।  
युक्तिदीपिकाकारिका एवं अल्पग्रन्थमनलपार्थ सर्वस्तन्त्रगुणैर्युतम् । परमर्षस्य  
तन्त्रस्य बिम्बादर्शम् यथा । (कारिका-14 युक्तिदीपिका)

<sup>4</sup> स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षि प्रणीता ब्रह्मसूत्र (2/1/1)

<sup>5</sup> यदि ब्रह्मोपोपादानकारणं ततः कपिल महर्षिप्रणीत-परितन्त्राख्यस्मृत्येनवाकाशोनिर्विषयत्वम् । (ब्रह्मसूत्र 2/1/1 पर भाष्य)

षष्टितत्र का अध्ययन ही नहीं वरन् उसमें विशेष योग्यता भी प्राप्त की थी।<sup>1</sup> इससे महावीर स्वामी के समय षष्टितत्र की उपलब्धता की सूचना मिलती है। पचरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि षष्टितत्र (साठ भागों वाला) भगवान् विष्णु के सकल्प से सांख्य रूप में कपिल महर्षि से प्रकट हुआ।<sup>2</sup> आधुनिक विद्वानों में पं० उदयवीर शास्त्री<sup>3</sup>, डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र<sup>4</sup> तथा रामसुरेश पाण्डेय षष्टितत्र को कपिल प्रणीत मानने के पक्ष में हैं।<sup>5</sup> चीनी परंपरा में षष्टितत्र को पचशिख की रचना माना गया है। पं० गोपीनाथ कविराज ने जय मंगला की भूमिका में इसे कपिलकृत कहा है।<sup>6</sup> प्रो० हिरियन्ना ने सांख्यकारिका<sup>7</sup> एवं जयमंगला टीका के कुछ वाक्यों के आधार पर इस मत का समर्थन किया है। प्रायः सामाख्यातम्<sup>8</sup> पद के आधार पर ही विद्वान यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि सामाख्यातम् का अर्थ मुख से उच्चारण करना होता है इसलिए कपिल ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी वरन् मौखिक ही उपदेश दिया था। पं० उदयवीर शास्त्री इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि उपदेश सदैव मौखिक ही होता है किन्तु उसका रचना से कोई विरोध नहीं है।<sup>9</sup> ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका के वाक्य ही—“आसुरिरपि पचशिखय तेन च बहुधा कृत तन्त्र”<sup>10</sup> में आये बहुधा पद का प्रयोग

<sup>1</sup> उदयवीर शास्त्री सांख्य दर्शन का इतिहास

<sup>2</sup> सांख्यरूपेण सकल्पो वैष्णव कपिलादृषे उदितो यादृश पूर्व तादृश शृणुमोखिलम्। षष्टिभेद स्मृत तन्त्र सांख्य नाम महामुने प्राकृत वैकृत चेति मण्डले-द्वे समासत । —अहिर्बुध्न्यसंहिता 12/19

<sup>3</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० 104

<sup>4</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृ० 83

<sup>5</sup> रामसुरेश पाण्डेय, महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन, पृ० 76

<sup>6</sup> जयमंगला (भूमिका), पृ० 1

<sup>7</sup> जयमंगला, पृ० 65, कारिका— 51, 70—72

<sup>8</sup> परमर्षिणा समाख्यातम् ।। सांख्यकारिका 69

<sup>9</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० 82

<sup>10</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका— 70



यह स्पष्ट कर देता है कि तन्त्र पहले से विद्यमान था, पंचशिख ने आसुरि से उसका अध्ययन कर उसे अनेक शिष्यों को पढ़ाया तथा प्रचार किया। यदि ईश्वरकृष्ण का अभिप्राय यह बताना अभीष्ट होता कि पंचशिख की कृति षष्टितंत्र है तो वे कृत तन्त्र ही लिख देते। बहुधा का अनावश्यक प्रयोग न करते।<sup>1</sup> बहुधा पद के प्रयोग का एक और प्रयोजन है जिसे माठर<sup>2</sup> तथा युक्तिदीपिकाकार<sup>3</sup> ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि पंचशिख तक यह क्रम रहा कि गुरु ने एक ही शिष्य को तन्त्र का अध्ययन कराया, कपिल ने आसुरि को, आसुरि ने पंचशिख को किन्तु पंचशिख ने इसका अध्ययन बहुत से शिष्यों को कराया। जयमंगला टीका से यह बात और स्पष्ट होती है कि पंचशिख से पूर्व षष्टितंत्र नामक ग्रन्थ विद्यमान था। पंचशिख ने उसमें प्रतिपादित साठ पदार्थों के आधार पर साठ खण्डों की रचना की।<sup>4</sup> इस टीका से मूल षष्टितंत्र के रचयिता पंचशिख नहीं सिद्ध होते। संभव है व्याख्याकार होने के कारण ही चीन देशी परंपरा में पंचशिख को षष्टितंत्र का कर्त्ता माना जाने लगा हो।<sup>5</sup>

कुछ विद्वान तन्त्र के रचयिता वार्षगण्य को मानते हैं<sup>6</sup> यदि ऐसा होता तो ईश्वरकृष्ण कारिका में इनका उल्लेख अवश्य करते। उपसंहार करते हुए वे जहाँ कपिल, आसुरि एवं पंचशिख का उल्लेख करते हैं, वहाँ वार्षगण्य का नामोल्लेख भी नहीं करते। वार्षगण्य के पूर्ववर्ती आचार्यों ने तन्त्र का उपदेष्टा कपिल को माना है।<sup>7</sup> इस सम्बन्ध में

<sup>1</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 83

<sup>2</sup> पंचशिख तेन बहुधाकृत तन्त्रम्। बहुना शिष्याणां प्रदत्तम्। माठरवृत्ति, कारिका-76

<sup>3</sup> तेन च बहुधाकृत तन्त्रं बहुभ्यो जनकं वशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम् युक्तिदीपिका, कारिका-70

<sup>4</sup> "बहुधाकृतं तत्र षष्टितन्त्रम् षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव हि षट्तिरर्था व्याख्याता।"

<sup>5</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 85

<sup>6</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 87.

<sup>7</sup> आदिविद्वान् निर्माणं चित्तमधिष्ठाय कारण्याद् भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञास्मानाय तन्त्रं प्रोवाच।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मूल षष्टितत्र साख्य प्रवचन सूत्र में निहित है या तत्त्व समास सूत्र ही षष्टितत्र है ? प० उदयवीर शास्त्री<sup>1</sup> तथा डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र<sup>2</sup> के अनुसार उपलब्ध साख्यप्रवचनसूत्र में ही मूल षष्टितत्र निहित है।

इसे साख्य षडध्यायी भी कहते हैं। शास्त्री जी बहुत विस्तार के साथ कारिकाओं एवं साख्यसूत्रों की तुलना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि इन सूत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में कुछ परिवर्तन हुए हैं तथापि कपिल की कृति इसी षडध्यायी में निहित है।<sup>3</sup> इसमें जो अर्वाचीन आचार्यों के नाम, विचारों एवं सिद्धान्तों का अनेकशः उल्लेख हुआ है। वे निश्चित ही प्रक्षिप्त हैं।<sup>4</sup> साख्यसूत्रों के अर्वाचीन होने के पक्ष में यह तर्क साख्यसूत्रों के प्राचीनता का बाधक नहीं है उदाहरणार्थ सायण के ऋग्वेद भाष्य में से किसी का भी उल्लेख नहीं किया है तीनों ने ही सायण से 1000 वर्ष पूर्व ऋग्वेद भाष्य लिखा था। इससे इन भाष्यकारों की प्राचीनता नहीं भग होती।<sup>5</sup> अनिरुद्ध ने कही भी ईश्वरकृष्ण की किसी कारिका का उद्धरण नहीं दिया है। इन सूत्रों पर सर्वप्रथम वृत्ति लिखने वाले अनिरुद्ध ने साख्यसूत्रों को कपिल प्रणीत कहा है यदि ये अर्वाचीन हो तो अनिरुद्ध द्वारा इन सूत्रों को कपिल कृत बताना एवं उस पर वृत्ति लिखना उचित नहीं प्रतीत होता।<sup>6</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी इन सूत्रों को कपिलकृत मानकर इनकी विस्तृत व्याख्या की है।<sup>7</sup>

<sup>1</sup> उदयवीर शास्त्री साख्यदर्शन का इतिहास पृ० 100—105 एवं 115

<sup>2</sup> आद्याप्रसाद मिश्र साख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा पृ० 113

<sup>3</sup> उदयवीर शास्त्री, साख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 105

<sup>4</sup> उदयवीर शास्त्री, साख्यदर्शन का इतिहास, पृ० 105

<sup>5</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृ० 113

<sup>6</sup> 'अतिकारुणिको महामुनिर्जगदुद्दिदधीर्षु कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाण प्रथम सूत्र चकार' अनिरुद्धवृत्ति, ग्रन्थ के आरम्भ में

<sup>7</sup> श्रुत्यविरोधिरूपपत्ती षडध्यायी रूपेण विवेकाशास्त्रेण कपिलभूर्तिभगवानुपदिदेश  
—साख्य प्रवचन भाष्य के आरम्भ में।

ईश्वरकृष्ण से पूर्व प्रसिद्ध आचार्य सुश्रुत ने सुश्रुत संहिता<sup>1</sup> में तथा अहिर्बुध्न्यसंहिता के कर्ता ने इस संहिता<sup>2</sup> में सांख्यमत का उल्लेख सांख्यसूत्र (1/61) के आधार पर किया है। इसी प्रकार श्रीकण्ठ<sup>3</sup> और अमरकोश के व्याख्याकार क्षीरस्वामी<sup>4</sup> भी सांख्यसूत्र (1/61) को उद्धृत करते प्रतीत होते हैं।

माठरवृत्ति में माठराचार्य<sup>5</sup> कहते हैं कि सष्टितन्त्र एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें साठ विषयों का वर्णन है, न कि साठ अध्यायों वाला है। डॉ० दासगुप्त का मत है कि माठराचार्य कृत परिगणना मनमानी प्रतीत होता है।<sup>6</sup> ईश्वरकृष्ण के विषय में इनका मत है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ईश्वरकृष्ण को सष्टितन्त्र पढ़ने का अवसर मिला होगा या उन्हें इस पर आधारित कोई संशोधित संग्रह ही प्राप्त हुआ होगा। इसके विपरीत 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में वर्णित सांख्य सष्टितन्त्र से पूर्णतः सहमत है ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लेखक ने सष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ अवश्य देखा होगा। यह भी सम्भव है कि कपिलकृत तन्त्र ने कुछ महत्वपूर्ण दृष्टियों से अपना स्वरूप बदलना प्रारम्भ कर दिया हो और परंपरा में जब यह ईश्वरकृष्ण तक पहुँचा तब तक यह बहुत बदल चुका था। सष्टितन्त्र से बहुत भिन्न हो जाने पर भी वह दर्शन कपिल के उपदेशों से पूर्ण समझा जाता रहा होगा।<sup>7</sup> डॉ० दासगुप्त के अनुसार कपिल प्रणीत तन्त्र वाचस्पति के समय से पूर्व ही लुप्त हो चुका था।<sup>8</sup> अतः

<sup>1</sup> सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणम्.....अव्यक्तनाम्।

—आचार्य सुश्रुत, सुश्रुतसंहिता, अध्याय 1

<sup>2</sup> अहिर्बुध्न्यसंहिता, 6/17, 18

<sup>3</sup> श्रीकण्ठ ब्रह्मसूत्र 2/1/2, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति इत्यंगकारात् -2/1/1 एवं 2/2/8

<sup>4</sup> अमरकोश, क्षीरस्वामी, 1/4/29, पर व्याख्या

<sup>5</sup> माठरवृत्ति, सांख्यकारिका-62

<sup>6</sup> Dr. S. N. Dass Gupta, History of Indian Philosophy, Part IV

<sup>7</sup> Dr. S. N. Dass Gupta, History of Indian Philosophy, Part IV

<sup>8</sup> Dr. S. N. Dass Gupta, History of Indian Philosophy, Part I, P - 221

नवी शताब्दी के बाद ही किसी ने प्रचलित सांख्य दर्शन के आधार पर सांख्यसूत्र तथा तत्त्वसमाससूत्र की रचना की होगी। डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी के अनुसार सांख्यदर्शन में किसी प्राचीन सूत्र ग्रन्थ के न मिलने के कारण कालान्तर में इन्हीं सूत्र ग्रन्थों को कपिल प्रणीत मान लिया गया।<sup>1</sup>

1.3 : जैसा कि पहले यह बताया जा चुका है कि पुराण आदि में वर्णित है कि सांख्य प्रणेता कपिल ने सांख्यशास्त्र का ज्ञान अपने शिष्य आसुरि को दिया था।

1.3 क : 'आसुरि' सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल के साक्षात् शिष्य थे।

कपिल शिष्य आसुरि की भी ऐतिहासिकता के विषय में मतभेद है पं० गोपीनाथ जी कविराज इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं।<sup>2</sup> कीथ<sup>3</sup> इन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने के विरुद्ध हैं। गार्वे<sup>4</sup> भी इसी मत का समर्थन करते हैं, किन्तु उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि यदि सांख्य से सम्बद्ध आसुरि ऐतिहासिक हैं तो ये अवश्य ही शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से भिन्न हैं। माटरवृत्ति के आरंभ में सांख्य सम्प्रदाय की गुरु शिष्य परंपरा का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—'कपिलादासुरिणा प्राप्तम्.....ततः पंचशिखेन। आसुरि की कोई भी कृति आज उपलब्ध नहीं होती।

1.3 ख : महाभारत<sup>5</sup> वर्णन के अनुसार ये आसुरि के प्रथम शिष्य थे। पंचशिख ने कपिल रचित षष्ठितंत्र का अध्ययन अनेक शिष्यों को कराया। यद्यपि आसुरि की ही भांति इनका भी कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता तथापि इसके सिद्धान्त एवं मतों के

<sup>1</sup> डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी, सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु, पृ० 19

<sup>2</sup> सांख्यकारिका की जयमंगला टीका की कविराज जी द्वारा लिखित भूमिका, पृ० 3

<sup>3</sup> A. B. Keith, Samkhya system, PP. 47, 48

<sup>4</sup> Prof. Garbe, Samkhya and yoga, PP-2, 3

<sup>5</sup> आसुरेः प्रथम शिष्य यमादुश्चिरजीविनम्। —महाभारत 12/218/10

उद्धरण—सांख्य योग के प्राचीन ग्रन्थों में सूत्रात्मक शैली में प्राप्त होते हैं। इनके मतों के उद्धरण योगसूत्र, व्यास भाष्य में सबसे अधिक प्राप्त होते हैं, जिन्हें वाचस्पति ने तत्त्व वैशारदी तथा विज्ञान भिक्षु आदि परवर्ती टीकाकारों ने पचशिखाचार्य कहा है।<sup>1</sup> कुछ सांख्यसूत्रों में भी पचशिख के मत का उल्लेख है।<sup>2</sup> वाचस्पति मिश्र कृत 'भामती' में भी पचशिख के उद्धरण आये हैं।<sup>3</sup> वाचस्पति मिश्र कृत 'भामति' में भी पचशिख के उद्धरण आये हैं।<sup>4</sup>

गौडपादभाष्य (कारिका-1) एवं माठरवृत्ति (कारिका-22) में एक उद्धरण इस प्रकार आया है—'पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमेरतः जटीमुण्डीशिखी वापि मुच्यते नात्र सशयः।' यही उद्धरण भावागणेश ने भी तत्त्वसमाससूत्रों की व्याख्या में 'तथा चोक्तं पंचशिखेन प्रमाणवाक्यम्' यह लिखकर उद्धृत किया है। ग्रन्थारम्भ में वे लिखते हैं कि उन्होंने तत्त्वसमास की पचशिखकृत व्याख्या का आधार लेकर तत्त्वयथार्थ्य दीपनम् लिखा है।<sup>5</sup> उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि पंचशिख ने सांख्य सिद्धान्त का आश्रय लेकर स्वतंत्र रूप से किसी ग्रन्थ की रचना की होगी। अस्तु आचार्य पचशिख कपिलापेदिष्ट सांख्य को विस्तृत रूप से व्याख्यात कर उसे सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने वाले के रूप में स्मरणीय रहेंगे।

1.3 ग : ये भी प्रमुख सांख्य आचार्यों में से एक हैं। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित<sup>6</sup> में

<sup>1</sup> एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्, योग्यभाष्य 1/4 इसी प्रकार 1/25, 1/36, 2/5, 2/6, 2/13, 2/15, 3/13, 2/16, 2/18, 2/20 एवं 3/14

<sup>2</sup> कुछ सांख्यसूत्रों में आचार्य पचशिख का विवरण इस प्रकार आया है पचशिख आध्यात्मशक्तियोग 5/32, अविवेक निमित्तो वा पचशिख 6/68

<sup>3</sup> 1/27, सत्त्वनामप्रसाद लाघवान् . मोहात्मकम् विज्ञानभिक्षु कृत प्रवचन भाष्य

<sup>4</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, भामती-2/2/10

<sup>5</sup> भावागणेश, भूमिका, श्लोक 3

<sup>6</sup> अश्वघोष, बुद्धचरित्, 12/66

जैगीषव्य जनक और वृद्धपराशर का साख्य और योग के प्राचीन आचार्यों के रूप में निर्देश किया है। इनमें वृद्धपराशर तो पचशिख ही प्रतीत होते हैं। महाभारत के अनुसार साख्याचार्य देवल के गुरु जैगीषव्य ही थे। प्रो० कीथ<sup>1</sup> ने लिखा है कि 'कूर्म पुराण' के अनुसार जैगीषव्य पचशिख के सहाध्यायी थे। योगसूत्रों के व्यास भाष्य<sup>2</sup> में भी 'चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्य' के रूप में इनके इन्द्रियजयविषयक मन का उल्लेख प्राप्त होता है इनकी कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है।

1.3 घ : ये भी प्रमुख साख्य आचार्यों में से अन्यतम हैं इनकी भी कोई रचना प्राप्त नहीं होती है। इनके सिद्धान्तों का निर्देश अवश्य ही विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है—'पंचपर्वऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।<sup>3</sup> 'मूर्तिव्यवधिजातिभेदा भावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः।'<sup>4</sup> तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति— 'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, समान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते।'<sup>5</sup> एकरूपाणि तन्मात्रणीत्यन्ये, एकरूपाणीति वार्षगण्यः।'<sup>6</sup> करणाना महती स्वभावातिवृत्तिः। प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः इति वार्षगण्यः। इत्यादि।

उक्त निर्देशों से वार्षगण्य के सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि वार्षगण्य ने अवश्य ही किसी ग्रन्थ की रचना की थी, जो अब लुप्त हो गया है। कुछ विद्वान् वार्षगण्य को 'षष्टितत्र' का प्रणेता मानते हैं तथा उनकी इस मान्यता का आधार यह है कि योगसूत्रों के व्यासभाष्य में सू० 4/13 पर तथा च

<sup>1</sup> A. B. Keith, Samkhya System P-51

<sup>2</sup> व्यास भाष्य (योगसूत्र 2/55)

<sup>3</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, साख्य तत्त्व कौमुदी, कारिका-47

<sup>4</sup> योगभाष्य सू०-3/54

<sup>5</sup> युक्तिदीपिका, पृ० 72

<sup>6</sup> युक्तिदीपिका, पृ० 108

शास्त्रानुशासनम्' इस प्रस्तावना के साथ एक श्लोक उद्धृत है जो इस प्रकार है—गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमिच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी टीका में भाष्य के तथा च शास्त्रानुशासनम्' का इस रूप में स्पष्टीकरण किया है कि 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि' जिससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वाचस्पतिमिश्र के अनुसार उक्त श्लोक 'षष्टितत्र' का है। किन्तु अन्य वाचस्पति मिश्र के कथन में मदभेद है कि 'षष्टितत्र' पचशिख की रचना है या वार्षगण्य की।

1.3 ड : ईश्वरकृष्ण साख्य के मूल प्रवर्तक कपिल द्वारा प्रचारित एव आसुरि, पचशिख आदि द्वारा सवर्धित मुख्य साख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे। इनकी कृति 'साख्यकारिका' ने अत्यधिक पसिद्धि प्राप्त की है। वर्तमान में साख्यशास्त्रीय विचारधारा के मूल ग्रंथ तीन ही प्राप्त होते हैं— 'साख्यकारिका', 'तत्त्वसमास' एवं 'साख्य प्रवचनसूत्र'। आज प्राप्त होने वाले साख्य दर्शन के अन्य ग्रन्थ इन तीन मूल ग्रन्थों की ही टीका या व्याख्या के रूप में हैं। इन व्याख्या ग्रन्थों में से भी अधिकांश 'साख्यकारिका' की ही व्याख्याओं और इन व्याख्याओं की अनुव्याख्याओं के रूप में हैं। साख्य दर्शन के आज उपलब्ध होने वाले मूल ग्रन्थों में साख्य कारिका प्राचीनतम है। यह आचार्य शंकर आदि आचार्यों के द्वारा उद्धृत की जाती रही है, अतः यह स्पष्ट है कि यह साख्य दर्शन की एक प्रामाणिक कृति है। साख्यकारिकाकार ईश्वर-कृष्ण ने कहा है कि साख्य के प्रथम आचार्य परमर्षि कपिल ने जो ज्ञान अपने शिष्य आसुरि को दिया उसे आसुरि ने अपने शिष्य पचशिख को दिया, पचशिख ने उसे विस्तृत किया और फिर उसके बाद शिष्य-परंपरा से प्राप्त उसी विस्तृत ज्ञान को

सक्षिप्त रूप में उन्होंने (ईश्वरकृष्ण) ने सांख्यकारिका की सत्तर कारिकाओं में प्रस्तुत कर दिया है।<sup>1</sup> सांख्यकारिका षष्टितन्त्र के आधार पर आर्याछन्द में लिखी गयी है। इसमें केवल सांख्य सिद्धान्तों का ग्रहण किया गया है।<sup>2</sup> आख्यायिकाओं एवं परमत खण्डन को छोड़ दिया गया है। इनका काल प्रायः प्रथम शताब्दी माना जाता है। डॉ० दासगुप्त इन कारिकाओं का समय 200 ई० मानते हैं।<sup>3</sup>

1.4 : ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका सक्षिप्त एवं सारगर्भित होने के कारण इतनी प्रसिद्ध हुई कि इस पर अनेक टीकाएं लिखी गयीं जिनमें 'सुवर्णसप्तति', 'माठरवृत्ति', 'गौडपाद-भाष्य' आदि महत्त्वपूर्ण टीकाएं हैं—

### सुवर्णसप्ततिशास्त्र

'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' सांख्यकारिका की सर्वप्राचीन टीका मानी जाती है। इसका अनुवाद उज्जयिनी के बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने 557 से 569 ईस्वी के मध्य चीनी भाषा में किया था। पं० उदयवीरशास्त्री 'सुवर्ण सप्तति' का उपजीव्य 'माठरवृत्ति' को मानत है।<sup>4</sup> महामहोपाध्याय तिलक जी गौडपादभाष्य में तथा अय्यास्वामी शास्त्री 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' को 'माठरवृत्ति' तथा गौडपादभाष्य से भिन्न माठरभाष्य पर आधारित मानते हैं।

### माठरवृत्ति

आचार्य माठरकृत् सांख्यकारिका पर एक टीका है।<sup>5</sup> पं० उदयवीर शास्त्री इसे

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—69—72

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—72

<sup>3</sup> Dr S. N. Dass Gupta, History of Indian Philosophy, PP - 212

<sup>4</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० 467

<sup>5</sup> डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी, सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु, पृ० 29



सर्वाधिक प्राचीन टीका मानते हैं, और 'सुवर्णसप्तति' से इसको अभिन्न मानते हैं।<sup>1</sup> 'युक्तिदीपिका' के अनंक स्थलों पर ऐसे मतों का वर्णन या खण्डन किया गया है जो 'माटरवृत्ति' में उपलब्ध है। अतः यह युक्तिदीपिका से भी प्राचीन है अर्थात् सम्बन्धी मतभेद इस वृत्ति में नहीं हैं जबकि अन्य टीकाओं में हैं।

### युक्तिदीपिका

इसके रचयिता का नाम सदिग्ध है। यह 450 ईस्वी के लगभग की टीका है। युक्तिदीपिका में माटर के मतों का उल्लेख, अनुकरण एवं खण्डन<sup>2</sup> तथा जयमंगला<sup>3</sup> टीका में युक्तिदीपिका के मतों का उल्लेख प्राप्त होने से युक्तिदीपिका माटरवृत्ति से प्राचीन एवं जयमंगला से पूर्ववर्ती सिद्ध होती है।

### गौडपाद भाष्य

यह सांख्यकारिका पर लिखी गयी प्राचीन टीका है। पं० उदयवीर शास्त्री इसे माटरवृत्ति की छाया मात्र मानते हैं।<sup>4</sup> इसका समय 550 ई० निर्धारित करते हैं।<sup>5</sup>

डॉ० राधाकृष्णन् का मत है कि इस बात का समर्थन नहीं किया जा सकता कि ये गौडपाद माण्डूक्यकारिका के रचयिता हैं, क्योंकि दोनों ग्रन्थों में विचारों की भिन्नता है।<sup>6</sup>

### जयमंगला

सांख्यकारिका की टीकाओं में यह प्रसिद्ध टीका है। यह आचार्य शंकर की

<sup>1</sup> सुवर्णसप्तति भूमिका, पृ० 38

<sup>2</sup> युक्तिदीपिका, 38, 43

<sup>3</sup> जयमंगला—15

<sup>4</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० 405

<sup>5</sup> उदयवीर शास्त्री, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० 473

<sup>6</sup> डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, 2, पृ० 221

टीका मानी जाती है, परन्तु इसका प्राचीन संस्करण जो काशी से प्रकाशित हुआ था इसकी भूमिका में प० गोपीनाथ कविराज जी ने स्पष्ट किया है कि यह भाष्यकार शकराचार्य नामक कोई बौद्ध भिक्षु था।<sup>1</sup> इस प्रकार इसके रचयिता का नाम सदिग्ध है। इसके भाष्यकार कही-कही गौडपादभाष्य को उद्धृत करते हुए प्रतीत होते हैं। 51वीं सांख्यकारिका में आठ सिद्धियों का स्वाभिमत व्याख्यान देकर आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'अन्येव्याचक्षते' इत्यादि शब्दों द्वारा अपने पूर्ववर्ती किसी व्याख्याता के मत का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों में वाचस्पति द्वारा जयमंगलाकार का अनुसरण किए जाने<sup>2</sup> से जयमंगलाकार का समय निःसन्देह वाचस्पति से पूर्व का सिद्ध होता है।

### तत्त्वकौमुदी

आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' टीका सांख्यकारिका की सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका है। इसने दार्शनिक जगत् में पर्याप्त ख्याति एवं लोकप्रियता प्राप्त की है। इस टीका में सांख्यकारिका के प्रतिपाद्य विषय को पूर्णतः उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। वाचस्पति मिश्र का समय 9 वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने सांख्यशास्त्र के पूरक शास्त्र योगभाष्य पर तत्त्ववैशारदी नामक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी। आधुनिक काल में तत्त्वकौमुदी पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिसमें स्वामी बलराज उदासीन की विद्वत्तोषणी, प० सम्राट वरेश्वर मिश्र की वृहत् टीका सांख्य-तत्त्वदिवाकर श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य की किरणावली,

<sup>1</sup> प० गोपीनाथ कविराज, जयमंगलाकारिका-22

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, 11, 22, 30, 44, 51

शिवनारायणशास्त्री की सारबोधिनी तथा प० हरीरामशुक्ल की सुषमा नामक प्रसिद्ध टीका है। उक्त टीकाओं के अतिरिक्त सांख्यकारिका मुडुम्ब नरसिंह स्वामिन् की 'सांख्यतारुबसन्त' एवं नारायणतीर्थ की 'सांख्यचन्द्रिका' नामक टीकाएँ भी हैं।

### सांख्यप्रवचन सूत्र पर भाष्य

सांख्यप्रवचन सूत्र जिसके विषय में इसी अध्याय में चर्चा हो चुकी है, के ऊपर तीन प्रसिद्ध व्याख्याएँ हैं। 'अनिरुद्धवृत्ति' यह अनिरुद्ध कृत है। यह सांख्यसूत्र की प्राचीनतम टीका है इसका समय 11वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी के मध्य माना गया है।<sup>1</sup>

### विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य

सांख्यप्रवचनसूत्र पर विज्ञानभिक्षु कृत भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। डॉ० दासगुप्त<sup>2</sup> एवं डॉ० राधाकृष्णन<sup>3</sup> ने इनका समय 16वीं शताब्दी माना है। डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव महोदय ने इनका काल 1525–1600 ई० तक निर्धारित किया है।<sup>4</sup> सांख्य दर्शन पर इसका एक और ग्रन्थ है—सांख्यसार।

### महादेव वेदान्तीकृत वृत्तिसार

महादेव वेदान्तीकृत 'वृत्तिसार' अनिरुद्धवृत्ति का सार है। वे अपने टीका के प्रारम्भ में लिखते हैं, कि उन्होंने अपनी टीका अनिरुद्ध वृत्ति का अध्ययन करके लिखी है।<sup>5</sup>

<sup>1</sup> प० उदयवीर शास्त्री जी ने 11वीं शताब्दी स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० 312  
डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र ने 15वीं शताब्दी माना है, सां० दर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृ० 313 डॉ० राधाकृष्णन् ने 15वीं शताब्दी माना है भारतीय दर्शन-2, पृ० 255, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने इनका काल 14 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया। —Dr. S.N. Dass Gupta, History of Indian Philosophy. Vol.1, P.P. 212

<sup>2</sup> Dr. S.N. Dass Gupta, History of Indian Philosophy, Vol.1, P.P. 221

<sup>3</sup> डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 244.

<sup>4</sup> डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान

<sup>5</sup> सांख्यसूत्र

इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध वैयाकरण नागेशभट्ट की एक व्याख्या है, जो पूर्व व्याख्याताओं का ही प्रयोग अनुशरण करने से वैशिष्ट्य शून्य है।

साख्य दर्शन से सम्बन्धित एक संक्षिप्त ग्रन्थ 'तत्त्वसमास सूत्र' है। इसकी कई व्याख्याएँ मुद्रित हो चुकी हैं। इन व्याख्याओं का एक संग्रह 1918 में चौखम्बा संस्कृतसिरीज बनारस से 'साख्यसंग्रह' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह में निम्नलिखित व्याख्याएँ संग्रहित हैं—

1. साख्यतत्त्व विवेचन— श्री शिमानन्द कृत यह, 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। सूत्रों की संख्या 15 है किन्तु व्याख्यान केवल 22 पर है।
2. तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् — श्री भावागणेश कृत 16वीं शताब्दी की रचना है इसमें 25 सूत्र हैं। सर्वोपकारिणी टीका—इसमें 22 सूत्र हैं। साख्यसूत्रविवरण—इसमें 23 सूत्र हैं। क्रमदीपिका या 'तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति'—प० उदयवीरशास्त्री ने इसे तत्त्वसमास की अन्य टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन कहा है।<sup>1</sup> इसमें 23 सूत्र हैं। इसके अतिरिक्त एक और व्याख्या कपिलसूत्र विवरण अथवा कपिलसूत्र वृत्ति है, जिसका प्रकाशन कलकत्ता से सन् 1980 ई० में हुआ था।<sup>2</sup>
3. साख्य तत्त्वप्रदीपिका (यजुर्विद्वत्केशव)— साख्यतत्त्वप्रदीपन—कविराजयति, तत्त्वमीमासा —आचार्य कृष्ण मित्र, साख्य परिभाषा इत्यादि।

इन प्रमुख आचार्यों एवं उनकी कृतियों के विवरण तथा ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका के ऊपर टीकाओं के विवेचन के पश्चात् साख्य परंपरा के उन आचार्यों

<sup>1</sup> उदयवीर शास्त्री, साख्य दर्शन का इतिहास, पृ० 333

<sup>2</sup> उदयवीर शास्त्री, साख्य दर्शन का इतिहास पृ० 334

के नाम दिए जा रहे हैं जिनकी कोई कृति आज उपलब्ध नहीं होती, किन्तु यत्र तत्र इनके उल्लेख अवश्य हुए हैं। ये आचार्य ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती हैं। धर्मध्वज जनक<sup>1</sup> वशिष्ट, याज्ञवल्क्य, वोढु, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सहदेव, प्लुति, पुलह, भृगु, अगिरस, मारीचि, क्रतु, दक्ष,<sup>2</sup> जैगीषव्य, देवल, हारीत, बाल्मीकि पराशर, भार्गव, उलूक,<sup>3</sup> वार्षगण्य, ईश्वरकृष्ण विन्ध्यवास (इनको शिष्यपरंपरा में ईश्वरकृष्ण से परवर्ती माना जाता है) आदि।

1.5 : शोध ग्रन्थ के अगले अध्यायो में सांख्यदर्शन के तत्त्वों का विशद विवेचन किया जाएगा, प्रस्तुत अध्याय का विषय है—“सांख्य दर्शन का स्वरूप” अतः यहाँ पर सांख्य दर्शन के तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना समीचीन है। सांख्य में दो प्रकार के तत्त्वों को स्वीकार किया गया है, एक प्रकृति, जो अचेतन सगुण सविकार और सक्रिय है तथा दूसरा पुरुष, जो चेतन, निर्गुण निर्विकार एवं निष्क्रिय है। प्रकृति अव्यक्त है, जबकि पुरुष अनादि अनन्त अव्यय एव जन्मादि से व्यतिरिक्त माना गया है।

सांख्य दर्शन का प्रथम तत्त्व प्रकृति है। यह जड सक्रिय और त्रिगुणात्मक है।<sup>4</sup> विश्व के कार्य संघात का वह मूल है, वह सबका कारण है इसका कोई कारण नहीं है। ‘मूले मूलाभावादमूल मूलम्’ अर्थात् प्रकृति ही सबका मूल कारण है।<sup>5</sup> सत्त्व, रज

<sup>1</sup> युक्तिदीपिका-70 में इन्हें पञ्चशिख का साक्षात् शिष्य कहा गया है।

<sup>2</sup> वोढु सनकादि आचार्यों के नामों की सूची कालीपद भट्टाचार्य ने दी है। उर्मिला चतुर्वेदी, सांख्य दर्शन और विज्ञानभिक्षु, पृष्ठ 24

<sup>3</sup> माठरवृत्ति एव युक्तिदीपिका-71

<sup>4</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-11

<sup>5</sup> सांख्यसूत्र-1/67

और तम्, इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है।<sup>1</sup> प्रकृति के महदादि जो कार्य हैं वह त्रिगुणात्मक प्रत्यक्षगम्य सभी पदार्थों में विविध गुणों की सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है, प्रत्येक पदार्थ सुख-दुःख और माह का जनक है। अतः इनका कारण भी त्रिगुणात्मक होगा जो कि प्रधान है इस प्रकार अनुमान से भी प्रकृति की सत्ता सिद्ध है। अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रधान का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः कार्य से ही कारण का अनुमान किया जाता है।<sup>2</sup> वस्तुतः जगत् की प्रत्येक वस्तु सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन त्रिगुणों से उत्पन्न है। ये गुण क्रमशः प्रीति या सुख, अप्रीति या दुःख और विषाद या मोह स्वभाव वाले होते हैं। अतः जगत् के साथ ही दुःख सुख भी उत्पन्न होते हैं। गुणों की अव्यक्त समष्टि ही प्रकृति है।

सांख्य में पुरुष शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त है पुरुष के संयोग से ही प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है, तथा गुणों में परस्पर संघर्ष शुरू हो जाता है, फलस्वरूप सांसारिक पदार्थों का आविर्भाव होता है। पुरुष प्रकृति के समान ही निरपेक्ष माना गया है यह न कारण है न कार्य, न ही उसका कोई परिणाम होता है। पुरुष निष्क्रिय किन्तु चेतन सत्ता है इसलिए द्रष्टा है प्रकृति के साथ संयोग होने से प्रकृति से सृष्टि के विकास का निम्नलिखित क्रम प्राप्त होता है—प्रकृति से महत् (बुद्धि), अहंकार उसके द्विविध परिणाम वैकारिक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है व भूतादि अहंकार से पंच तन्मात्राएँ व पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सांख्य में पच्चीस तत्वों को माना गया है जिससे

<sup>1</sup> सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—1/61 सांख्यसूत्र

<sup>2</sup> माठरवृत्ति—8

सृष्टि का विकास होता है, सांख्य के अनुसार जगत् का नवीन आरंभ नहीं होता वह पहले से ही अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है। इसी को सिद्ध करने हेतु सांख्य में सत्कार्यवाद की स्थापना की गयी है। प्रकृति के सृष्टि का प्रयोजन है पुरुष को मुक्त करना, पुरुष अपने को पहचान लेता है व प्रकृति के स्वरूप का उसे ज्ञान हो जाता है सांख्य में इसे विवेक बुद्धि कहा गया है। सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर 'प्रकृति' विरत हो जाती है और पुरुष कैवल्य को प्राप्त हो जाता है।

---

## द्वितीय अध्याय

### प्रकृति का स्वरूप

2.1 : सत्कार्यवाद

2.2 : परिणामवाद एवं विवर्तवाद

2.3 : प्रकृति के विभिन्न नाम

2.4 : प्रकृति की सत्ता

क—व्यक्त एवं अव्यक्त में भेद व समानता

2.5 : प्रकृति का सत् एवं भावरूप

2.6 : सांख्य मत में असत्

2.7 : प्रकृति अनादि है

2.8 : प्रकृति और कर्तृत्व

2.9 : प्रकृति एक है अथवा अनेक



‘प्रकरोतीति प्रकृतिः’ अर्थात् जो (जगत् पर्यन्त) कार्यो को उत्पन्न करती है या ‘प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः’ अर्थात् जिससे कोई पदार्थ बनाया जाए, उसे प्रकृति कहते हैं। जगत् की प्रत्येक घटना कारण कार्य-श्रृंखला में बद्ध है। इसी तार्किक प्रक्रिया का आश्रय लेकर जगत् के उपादान कारण के विषय में अनेक मत उपस्थित होते हैं। स्वभावतः कोई परमाणुओं से, कोई अचेतन प्रधान से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। मानव बुद्धि की सीमाएँ सत्य को पूर्णरूपेण जानने में असमर्थ हैं। अतः तर्क के आधार पर सदैव उचित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। श्रुतियों में उक्त तथ्य के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ असत् से सत् की उत्पत्ति का निषेध करती हैं— कथमतः सज्जायेत<sup>1</sup> एव नासतो विद्यते भावः<sup>2</sup> इत्यादि। श्रुति नानात्व का निषेध करती है—नेह नानास्ति किञ्चन<sup>3</sup> सदैव सोम्यमिदं अग्रासीत एकमेव अद्वितीयं।<sup>4</sup> निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जगत् का कारण कोई एक सत् तत्त्व है। नानात्व या अनेकत्व सत्य नहीं है।

प्रत्येक वस्तु जो उत्पन्न होती है उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है, क्योंकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। इसीलिए इस त्रिगुणात्मक जगत् का भी कोई न कोई मूल कारण अवश्य होगा। सांख्यशास्त्र में उस मूल कारण को प्रकृति कहा गया है। इसे ही ‘अव्यक्त’ भी कहा गया है क्योंकि सांख्य का मत है

<sup>1</sup> छान्दोग्योपनिषद्, 6/2/2

<sup>2</sup> श्रीमद्भगवद्गीता/2/16

<sup>3</sup> बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/19

<sup>4</sup> छान्दोग्य उपनिषद्, 6/2/5

कि सृष्टि का कोई मूल तत्त्व है जो स्वरूपतः 'अव्यक्त' है। उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। 'अव्यक्त' का अर्थ अदृश्य नहीं है, प्रकृति के 'अव्यक्त' होने का अर्थ है सृष्टि के घटक तत्व की वह अवस्था जिसमें व्यक्त सृष्टि अपने बीज रूप में सिमटी रहती है।

भारतीय दर्शन में उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं। सांख्य परिणामवाद को मानता है। उसके अनुसार विश्व के असंख्य परिवर्तनशील पदार्थ किसी न किसी उपादान कारण से उत्पन्न हैं। ये उपादान कारण भी किसी न किसी अन्य कारण के कार्य हैं और इस प्रकार कारण-कार्य की इस श्रृंखला की अन्वेषणा करते हुए हम एक ऐसे मूल कारण का अनुमान करते हैं, जो सभी कारणों का कारण है और जिससे उस समस्त विश्व की रचना हुई है। इस कारण को ही सांख्यशास्त्र में 'प्रधान प्रकृति' आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। यहाँ एक शंका यह होती है कि यदि विश्व के सभी पदार्थ किसी न किसी कारण से उत्पन्न हैं तब इस प्रकृति का भी कोई अन्य कारण मानना चाहिए, अन्यथा कार्य कारण नियम में व्याघात उत्पन्न होगा।

इस शंका का समाधान सांख्य में अनवस्था दोष का प्रसंग देकर किया गया है। बीजांकुर न्याय अनवस्था दोष का बड़ा सुन्दर उदाहरण है—बीज का कारण क्या है—वह अंकुर या पौधा जिसके फल में वह आया था। उस अंकुर या पौधे का क्या कारण है—वह बीज जिससे यह पौधा उत्पन्न हुआ। उस बीज का भी कारण उसके पूर्व का पौधा एवं उस उस पौधे का भी कारण उसके पूर्व का बीज। इस प्रकार बीज और अंकुर दोनों ही एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। बीज और अंकुर के विषय में

कारण और कार्य के सम्बन्ध की यह अनन्तर परपरा अनवस्था है।<sup>1</sup> इसी प्रकार प्रकृति का कारण पुन उसका भी कारण पुन उस कारण का भी कारण और इस प्रकार आगे भी कारण मानते जाने पर अनवस्था होगी। ऐसी अवस्था में हम विश्व के एक ऐसे मूल कारण को मानना आवश्यक है, जो किसी अन्य का कारण नहीं। सांख्यदर्शन में वह मूल कारण प्रकृति को माना गया है—‘मूल प्रकृतिर— विकृति।’<sup>2</sup> अर्थात् वह मूल प्रकृति कार्य से भिन्न अर्थात् केवल कारण है जो कार्यो को उत्पन्न करती है वही प्रकृति है।

वाचस्पति मिश्र ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए सांख्य कारिका की अपनी टीका तत्त्वकौमुदी में स्पष्ट कहा है कि परमाव्यक्त प्रकृति से भी परतर किसी अव्यक्त तत्त्व की मूल रूप में कल्पना करने में अनवस्था होगी। जो इस स्थल पर प्रामाणिक न होने से दोषयुक्त होगी।<sup>3</sup> इसी प्रकार ‘अजामेकाम्’ इत्यादि श्रुति तथा प्रकृतिपुरुष चैव विद्वचनादी उभावपि’ इत्यादि स्मृति वाक्य प्रकृति को अज और अनादि बताकर कारण परम्परा का उसी में अन्त मानते हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रकृति से परतर अन्य किसी अव्यक्त की कल्पना प्रामाणिक नहीं है।

**2.1 :** सत्कार्यवाद सांख्यदर्शन का ‘कारणता’ का सिद्धान्त है जो न्याय दर्शन के कारण सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। सत्कार्यवाद का प्रतिपादन प्रकृति रूप कारण की सत्ता की सिद्धि के उद्देश्य से किया गया है। सांख्य में प्रकृति के अस्तित्व को दृढ़ता

<sup>1</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्य तत्त्वकौमुदी प्रभा।

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्य कारिका—3 कारिकाश

<sup>3</sup> मूलचासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृति। विश्वस्य कार्य सघातस्य सा मूल न त्वस्या मूलनान्तरमास्त अनवस्था प्रसगात्। न चानवस्थाया प्रमाणमस्तीति भाव। —सांख्यकारिका—3 पर तत्त्वकौमुदी

के साथ स्वीकार किया गया है यथा—

‘नाऽवस्तुनोवस्तुसिद्धिः’<sup>1</sup> अर्थात् अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् रूप प्रपञ्च का कारण प्रकृति वस्तुतः सत् है अस्तित्ववान् है। इस प्रसंग में सत्कार्यवाद का विवेचन अति आवश्यक है।

सांख्य के कार्य कारणवाद का मूल प्रश्न है—क्या कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है अथवा नहीं? जो यह मानते हैं उन्हें सत्कार्यवादी और जो यह नहीं मानते उन्हें असत्कार्यवादी कहा जाता है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व ‘असत्’ है। अर्थात् अपने कारण में विद्यमान नहीं है। कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही आरंभ होती है, इस मान्यता के कारण असत्कार्यवाद को ‘आरम्भवाद’ भी कहते हैं। कार्य एक नूतन कृति है, एक नवीन सृष्टि है। यदि घट मृत्तिका में, पट तन्तुओं में तथा दही दूध में पहले से ही विद्यमान है तो कुम्हार को मिट्टी से घड़ा बनाने के लिए परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? फिर तन्तु ही पट (कपड़ा) का काम क्यों नहीं करते? और दूध का स्वाद दही जैसा क्यों नहीं होता?

सत्कार्यवाद का अर्थ है— उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् है यदि कार्य असत् हो तो प्रयत्न करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती यथा—नहिं नीलं शिल्पि सहस्रेणापि प्रीतं कर्तुं शक्यते।<sup>2</sup>

शांकरमत में भी सत्कार्यवाद स्वीकृत है। आचार्य शंकर कहते हैं कि कार्य

सांख्य सूत्र, 1/78

सांख्य तत्त्वकौमुदी पृष्ठ 93 चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी

कारण से अनन्य है। जब कारण सत् है तो कार्य असत् कैसे हो सकता है जैसा कि वेदान्त सूत्र शाकर भाष्य 2/1/16-17 में उद्धृत है।<sup>1</sup> सांख्यकारिकाकार सात्कार्यवाद का प्रतिपादन निम्नलिखित कारिका में इस प्रकार करते हैं—

“असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥<sup>2</sup>

अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य सत् है, इस परिप्रेक्ष्य में पाँच युक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

1. सांख्यवादियों के अनुसार असत् किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता। असत् में किसी वस्तु को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती। असत् से असत् ही उत्पन्न हो सकता है। शून्य से किसी वस्तु का आविर्भाव सम्भव नहीं है—‘असत् से सत् नहीं उत्पन्न होता है और सत् का कभी अभाव नहीं होता।<sup>3</sup> जैसे शशशृंग असत् है। इससे किसी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। बालू से तेल नहीं निकल सकता। इसी तरह हजार लोग मिलकर भी नीले रंग को पीला नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि यदि कारण में कार्य का अभाव है तो कारण से कभी भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् किसी कारण से तत्सम्बन्ध कार्य इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि वह उसमें स्वोत्पत्ति के पूर्व विद्यमान रहता है।

2. कार्य अपने उपादान का ग्रहण करके ही उत्पन्न होता है। अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियत रूप से सम्बद्ध रहता है। जैसे एक व्यक्ति दही प्राप्त

<sup>1</sup> यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत् उत्पद्यते यथा सिकताभ्यास्तेलम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते। —ब्रह्मसूत्र, 2/1/16-17, शाकरभाष्य

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-9

<sup>3</sup> श्रीमद्भगवद्गीता 2/16

करने के लिए दूध ग्रहण करता है, पानी नहीं। वह तेल प्राप्त करने हेतु तिलहन आदि को ही ग्रहण करता है, बालू को नहीं। यह इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है।

3. सभी कारण से सभी कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं। यदि कारण में कार्य अविद्यमान होता तो किसी भी कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति सम्भव होती। यदि अभाव से कार्योत्पत्ति होती तो बालू से तेल निकलना चाहिए। पुनः पानी में दही का अभाव होता है अतः पानी से भी दही बनना चाहिए। असत् से किसी वस्तु की उत्पत्ति कैसे सम्भव है (कथम् असत् सञ्जायेत्)? अर्थात् जो जिससे सम्बन्धित होता है (कारण कार्यरूप से), वह उसी से उत्पन्न होता है।
4. समर्थ कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है। दूध से दही बनता है, क्योंकि दूध में दही उत्पन्न करने की शक्ति है। जब दही बनेगा तो दुग्ध का ग्रहण करके ही, तिलादि अन्य वस्तुओं से नहीं क्योंकि दूध ही दधि को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है। यदि ऐसा न हो तो, सभी कारण से सभी कार्य उत्पन्न होने लगेंगे।
5. कारण के अनुरूप ही कार्य का भाव होता है।<sup>1</sup> कार्य कारण की व्यक्तावस्था है, और कारण कार्य की सूक्ष्म या अव्यक्तावस्था है। जैसे पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है।<sup>2</sup> तन्तुओं की ही अवस्था विशेष पट है। इसी प्रकार मिट्टी का घड़ा वास्तव में मिट्टी ही है और पत्थर की मूर्ति वस्तुतः पत्थर। ऐसे पदार्थों में, जो तात्त्विक रूप से भिन्न हैं कारणात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार कार्य कारणात्मक

<sup>1</sup> बाल गंगाधर तिलक, गीतारहस्य, पृ० 152-153.

<sup>2</sup> नहि कारणाभिन्नं एवं न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते। -सांख्यकारिका-9 पर तत्त्वकौमुदी

होता है, वह तात्त्विक रूप से कारण से अभिन्न होता है। कारण और कार्य का यह तादात्म्य कारण में कार्य के प्राग्भाव को प्रमाणित करता है।

सांख्य उत्पत्ति का विशिष्ट अर्थ करता है। यहाँ उत्पत्ति से तात्पर्य किसी ऐसे नवीन वस्तु की सृष्टि नहीं है जिसका कारण में पूर्व अभाव था। उसके अनुसार उत्पत्ति केवल अभिव्यक्ति है कारणावस्था में जो अव्यक्त रहता है वही कार्यावस्था में अभिव्यक्त होता है।

विज्ञानभिक्षु इस विषय में कहते हैं कि यह समस्त प्रपञ्च अपने कारण प्रकृति में उसी प्रकार सूक्ष्मरूप से रहता है, जैसे—शिला के अन्दर चक्र पद्मादि रेखाएँ पहले से ही विद्यमान रहती हैं, जिन्हें शिल्पि विभिन्न सम्बन्धों से बाह्याकार प्रदान करने का निमित्त बनता है। 'नैवेहकिंचनाग्र आसीत् एवं मृत्युनेवेदमावृत्तमासीत्' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति का आशय स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिसका द्वारा आवृत्त था वह कारण, एवं जो आवृत्त था वह कार्य था। इस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व दोनों ही विद्यमान थे।<sup>1</sup> सत्कार्यवाद के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् है। सांख्यमत में जगत् रूप कार्य प्रकृति का वास्वविक विकार है क्योंकि तत्त्वान्तर का आरम्भक होना ही प्रकृति का प्रकृतित्व है।<sup>2</sup>

2.2 : सत्कार्यवाद के दो रूप प्राप्त होते हैं—परिणामवाद और विवर्तवाद वेदान्त परिभाषाकार ने परिणामवाद एवं विवर्तवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है—

<sup>1</sup> बृहदारण्यक एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० 85

<sup>2</sup> भावागणेश विरचित सांख्यतत्त्वयाथार्थ दीपनम्। (सांख्य संग्रह)

“परिणामोनाम उपादान समसत्ताककार्यापत्तिः।

विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताककार्यापत्तिः।।”<sup>1</sup>

अर्थात् जहाँ कारण के समान कार्य भी वास्तविक सत्ता रखता है वहाँ परिणामवाद होता है, जहाँ कारण के सदृश्य कार्य की यथार्थ सत्ता नहीं होती वहाँ विवर्तवाद होता है।

परिणामवाद के अनुसार कार्य कारण का परिणाम है, वास्तविक रूपान्तरण है तात्त्विक परिवर्तन है। कारण सचमुच कार्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है। कार्य में कारण का आकार परिवर्तित होता है और यह आकार परिवर्तन वास्तविक होता है। जैसे मिट्टी से उत्पन्न घड़ा मिट्टी का यथार्थ रूपान्तरण है, दूध से निर्मित दही में दूध का तात्त्विक परिवर्तन होता है। सांख्य योग दर्शन और रामानुज का विशिष्टाद्वैत दर्शन परिणामवाद को स्वीकार करता है। सांख्ययोग दर्शन का सिद्धान्त ‘प्रकृतिपरिणामवाद’ कहलाता है। इसमें विश्व को प्रकृति का वास्तविक परिणाम माना जाता है। जिस प्रकार दूध में दही अव्यक्त रूप में वर्तमान होता है। और दही में दूध का वास्तविक रूपान्तरण होता है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृति में निहित होता है, और प्रकृति ही वस्तुतः जगत् के रूप में परिवर्तित होती है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत दर्शन में ‘ब्रह्मपरिणामवाद’ को स्वीकार किया जाता है जिसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का ही यथार्थ परिणाम है। जिस प्रकार मिट्टी का तात्त्विक परिवर्तन घड़ा है उसी प्रकार ब्रह्म का वास्तविक परिणाम यह नानाविध जगत् है।

विवर्तवाद में कार्य को कारण का तात्त्विक रूपान्तरण न मानकर प्रातीतिक या

<sup>1</sup> वेदान्त परिभाषा, पृष्ठ 141.



आभास मात्र स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार कार्य कारण का आभासमात्र है। विवर्त का धात्वर्थ है—उलट जाना या विपर्यास। ब्रह्म वह है जिसका विवर्त या विपर्यास देशकालादि बद्ध यह जगत् है।<sup>1</sup> शकराचार्य का अद्वैत वेदान्त विवर्तवाद का समर्थक है। वस्तुतः शकराचार्य जगत् की सत्ता सम्बन्धी विचार दो दृष्टियों से करते हैं— जगत् को व्यावहारिक कोटि में रखते हैं,<sup>2</sup> जिसकी सत्ता ससारावस्था या अज्ञानावस्था तक ही रहती है। ब्रह्मज्ञान होते ही जगत् तुच्छ प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में जगत् को असत् नहीं कह सकते क्योंकि अज्ञानावस्था में उसकी प्रतीति हुई थी। असत् की प्रतीति कभी नहीं हुआ करती। सत् वह है जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो—‘कालत्रयाबाध्यस्वरूपं सत्।’ ‘अबाध्यस्वरूप वाला तत्त्व ब्रह्मतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। जिस प्रकार रज्जु में सर्प की प्रतीति, व शुक्ति में रजत् की प्रतीति अज्ञानवश होती है और शुक्तिज्ञान व रज्जु ज्ञान से रजत् व सर्प की प्रतीति बाधित हो जाती है उसी प्रकार अविद्यावश जीव, ब्रह्मरूप अधिष्ठान में नानारूप जगत् को देखता है।<sup>3</sup>

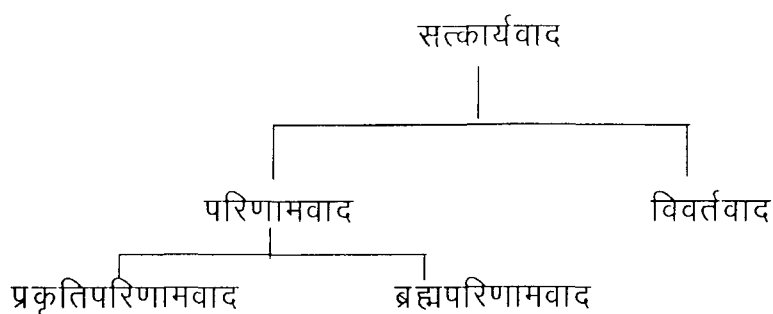
पारमार्थिक दृष्टि से अर्थात् ब्रह्मज्ञान के अनन्तर जगत् सत् नहीं रह जाता उसकी सत्ता केवल व्यवहारकाल तक ही है। पारमार्थिक दृष्टि प्राप्त होने पर ज्ञान की जगत् की नश्वरता का ज्ञान हो जाता है और जगत् तुच्छ प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार महायान बौद्धदर्शन का माध्यमिक सम्प्रदाय ‘शून्यता विवर्तवाद’ का प्रतिपादन करता है तथा योगाचार सम्प्रदाय विज्ञानविवर्तवाद का समर्थन करता है।

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन—2., पृ० 496

<sup>2</sup> व्यवहारकालमात्राबाध्यस्वरूपवत् व्यावहारिक यथा विषयादि प्रपञ्च।

<sup>3</sup> ब्रह्मसूत्र, 2/1/9 पर शाकर भाष्य

जगत् रूप कार्य के स्वरूप का उपर्युक्त विवेचन करने का यही अभिप्राय है कि यदि कार्य की प्रतीति किसी न किसी रूप में होती है, तो उसका कारण अवश्य ही होना चाहिए और यह कारण साख्य मत में प्रकृति है एवं वदान्त मत में ब्रह्माश्रित प्रकृति है। 'सत्कार्यवाद' और 'परिणामवाद' के भिन्न भिन्न रूपों को एक नामावली में इस प्रकार रखा जा सकता है—



सत्कार्यवाद के विरुद्ध अनेक आक्षेप उपस्थित किए जा सकते हैं सत्कार्यवाद को मानने से कार्य की उत्पत्ति की व्याख्या करना असम्भव हो जाता है यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण से व्याप्त है तो फिर इस वाक्य का, कि कार्य की उत्पत्ति हुई क्या अर्थ है?

यदि कार्य की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान है, तो निमित्त कारण को मानना व्यर्थ है। प्रायः कहा जाता है कि कार्य की उत्पत्ति निमित्त कारण के द्वारा सम्भव हुई। परन्तु साख्य का कार्यकारण सम्बन्धी विचार निमित्त कारण का प्रयोजन नष्ट कर देता है।

सत्कार्यवाद का सिद्धान्त आत्मविरोधी है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में ही विद्यमान है तो फिर कारण और कार्य के आकार में भिन्नता का रहना इस सिद्धान्त का खण्डन करता है।

सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य अभिन्न हैं तब कारण और कार्य से एक ही प्रयोजन पूरा होना चाहिए। परन्तु हम पाते हैं कि कार्य और कारण के अलग अलग प्रयोजन हैं। मिट्टी से बने हुए घड़े में जल रखा जाता है, परन्तु मिट्टी से यह प्रयोजन पूरा नहीं हो सकता।

यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य कारण में ही उपस्थित है तो हमें यह कहने की अपेक्षा कि कार्य की उत्पत्ति कारण से हुई, हमें कहना चाहिए कि कार्य की उत्पत्ति कार्य से हुई।

इन कुछ आपत्तियों से यह निष्कर्ष निकालना कि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त महत्त्वहीन है, सर्वथा अनुचित होगा। सांख्य का सारा दर्शन सत्कार्यवाद पर आधारित है अतः इसकी विशिष्ट महत्ता है। सांख्य अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रकृति की स्थापना सत्कार्यवाद के बल पर ही करता है। प्रकृति को सिद्ध करने के लिए सांख्य जितने तर्कों का सहारा लेता है उन सभी तर्कों में सत्कार्यवाद का प्रयोग है। डॉ० राधाकृष्णन का यह कथन कि “कार्य कारण सिद्धान्त के आधार पर विश्व का अन्तिम कारण अव्यक्त प्रकृति को ठहराया जाता है।<sup>1</sup> इस बात की पुष्टि करता है सत्कार्यवाद की महत्ता यह है कि विकासवाद का सिद्धान्त सत्कार्यवाद की ही देन है। विकासवाद का आधार प्रकृति है। प्रकृति से मन, बुद्धि पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियां, पंचमहाभूत इत्यादि तत्त्वों का विकास होता है। ये तत्त्व प्रकृति में अव्यक्त रूप से उपस्थित रहते हैं। विकासवाद का अर्थ इन अव्यक्त तत्त्वों को व्यक्त रूप

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 224

प्रदान करना है। सत्कार्यवाद के अभाव में विकासवाद के सिद्धान्त को समझना दुरुह कार्य है।

2.3 : सांख्य में प्रकृति के अनेक नाम प्राप्त होते हैं इनसे भी प्रकृति के स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। इसे 'प्रधान' नाम दिया गया है क्योंकि यह सब कार्यों का आधार है।<sup>1</sup> ब्रह्म अथवा वह जो बढ़ता है।<sup>2</sup> प्रकृति अव्यक्त भी है, क्योंकि इसमें यह सम्पूर्ण जगत् अस्तित्व में आने के पूर्व 'अव्यक्त' रूप से निहित था। प्रकृति को 'अजा' कहते हैं क्योंकि यह अनुत्पन्न है और इसका कोई कारण नहीं है। इसे 'अनुमान' भी कहते हैं क्योंकि इसकी सत्ता का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से न होकर केवल अनुमान से होता है। यह 'जड' है क्योंकि यह मूलभूत भौतिक पदार्थ है। प्रकृति को 'माया' कहा जाता है। माया उसे कहा जाता है जो वस्तुओं को सीमित करती है।<sup>3</sup> प्रकृति विश्व को सीमित करती है, क्योंकि वह कारण है और विश्व की समस्त वस्तुएँ कार्य है।

यह अचेतन होने के कारण 'अविवेकी' भी है। यह 'विषय' या 'ज्ञेय' है, क्योंकि यह पुरुष के द्वारा भोग्य एवं जानी जाती है।<sup>4</sup> प्रकृति को 'शक्ति' कहा जाता है, क्योंकि उसमें निरन्तर गति विद्यमान रहती है। इसे 'अविद्या' कहते हैं क्योंकि प्रकृति ज्ञान का विरोधात्मक है। यह 'सामान्य' है क्योंकि यह सम्पूर्ण भौतिक जगत् में व्याप्त है और यह भौतिक जगत् अपने आविर्भाव के पूर्व प्रकृति में ही निहित था। प्रकृति

<sup>1</sup> सांख्य प्रवचन भाष्य, 1 125, (डॉ० राधाकृष्णन भा० दर्शन-2 पृ० 225)

<sup>2</sup> 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्नाहं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥' भगवद्गीता 14/3

<sup>3</sup> डॉ० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा, भा० दर्शन की रूपरेखा, पृ० 237

<sup>4</sup> डॉ० राममूर्तिपाठक, भा० दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृ० 15

प्रसवधर्मिणी है, चूँकि सम्पूर्ण जगत् प्रकृति से प्रसूत है।

दृश्य, तम' अप्रतिबुद्ध, क्षर, क्षेत्र, अलिंग, गुणक्षोभिणी, बहुधानक, त्रिगुणात्मिका, तत्त्व, बीजशक्ति, मूलोपादान इत्यादि को प्रकृति का पर्यायवाची कहा गया है।

अद्वैतमत में प्रकृति को ब्रह्माश्रित अथवा ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। अद्वैतवादी, अविद्या, अज्ञान अध्यास, अध्यारोप, अनिवर्चनीय, विवर्त, भ्रान्ति, भ्रम, नामरूप, मूल प्रकृति, तम और माया इत्यादि नामों से प्रकृति को व्यवहृत करते हैं।<sup>1</sup> महाभारत (के शान्तिपर्व) में इसे स्वभावतः अज्ञ होने के कारण अप्रतिबुद्ध कहा गया है।<sup>2</sup> "अव्यक्तस्तु न जानीते पुरुषो ज्ञ स्वभावतः" (महाभारत 12/303/4)।

इसे प्रकृति इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण विकारों की उपादान कारण है। विकारों का यह उपादान कारणत्व ही प्रकृति का प्रकृतित्व है—तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रकृतित्वमिति सामान्यलक्षणं।<sup>3</sup> विचित्र सृष्टिकर्त्री होने के कारण इसे माया शक्ति कहते हैं—“अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्”<sup>4</sup> इसे मायावी परमेश्वर की शक्ति कहा गया है जो उसे स्पर्श न करते हुए जीवों को भ्रमित करती है। महाभारत के स्त्रीपर्व में<sup>5</sup> 'अदर्शन' शब्द अव्यक्त के अर्थ में आया है। 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि' 'अव्यक्तनिधनानि' इत्यादि गीता में प्रयुक्त अव्यक्त पद भी प्रकृति के अर्थ में है और इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सभी उत्पत्ति से पूर्व, पदार्थ अव्यक्तावस्था में रहते हैं। व्यास प्रकृति को निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तम—

<sup>1</sup> Dr. C.D. Sharma, A Critical Survey of Indian philosophy'.

<sup>2</sup> महाभारत (20/6/4)

<sup>3</sup> भावागणेशकृत तत्त्वयाथार्थ्य दीपनम् सांख्यसंग्रह

<sup>4</sup> श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/9

<sup>5</sup> महाभारत स्त्रीपर्व, 2/13.

लिङ्गं प्रधानम्<sup>1</sup> कहते हैं। भगवद्गीता के ना सतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः<sup>2</sup> इस वचन से भी यही सिद्ध होता है प्रकृति सभी वस्तुओं का अक्षयभण्डार है।

2.4 : पूर्व में प्रकृति रूप कारण की सत्ता की सिद्धि के उद्देश्य से सत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया गया। अब यह विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रकृति को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है? इसका उत्तर सांख्य में यह दिया गया है कि प्रकृति 'अतीन्द्रिय' है उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वरन् प्रकृति की सत्ता का भान हमें प्रकृति के कार्य (विकृति) को देखने से होता है। सांख्य एक 'प्रमेय' शास्त्र है, प्रमेय की सिद्धि हेतु प्रमाणों की आवश्यकता होती है, सांख्य तत्त्व सिद्धि के लिए तीन प्रमाणों की सहायता लेता है<sup>3</sup> —

“दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः॥”

अर्थात् सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण अभीष्ट या मान्य हैं, (प्रमाण इसलिए अभीष्ट या मान्य है कि प्रमाण से ही प्रमेय (ज्ञेय पदार्थ ज्ञान या सत्ता) की सिद्धि होती है।

सांख्य सम्मत प्रत्यक्ष अनुमान व शब्द प्रमाणों में से किसके द्वारा किस प्रकार के प्रमेय की सत्ता की सिद्धि होती है यह उक्त कारिका में द्रष्टव्य है—

“सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।

तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥”<sup>4</sup>

<sup>1</sup> श्रीमद्भगवद्गीता 2/18

<sup>2</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 2/16

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्य कारिका—4

<sup>4</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 6

सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान से तो अतीन्द्रिय या अप्रत्यक्ष विषयों की सिद्धि होती है और उससे भी अज्ञात परोक्ष या अप्रत्यक्ष विषय यथार्थ प्रतिपादन करने वाले आगम (शब्द) प्रमाण से सिद्धि होता है। इन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, व शब्द) में से जडतत्त्व का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है—

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान से अज्ञात प्रमेयों को ज्ञात कर लिया जाता है, जो पूर्व में कभी इन्द्रियगोचर हो चुके होते हैं, किन्तु ऐसे प्रमेयों का ज्ञान जो न तो वर्तमान में इन्द्रियों के गोचर या प्रत्यक्ष हैं और न भूतकाल में ही प्रत्यक्ष हो चुके हैं, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान और आगम प्रमाण से ही हो सकता है। इन दोनों प्रकार के अनुमानों से प्रकृति एवं पुरुष आदि अतीन्द्रिय प्रमेयों की सत्ता की सिद्धि हो जाती है। और जो स्वर्ग, 'कैवल्य' आदि अतीन्द्रिय प्रमेय उक्त द्विविध अनुमान से भी ज्ञात नहीं हो पाते, उनका ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।<sup>1</sup>

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार आकाश के फूल, कछुए के रोम, तथा खरगोश की सींग आदि के विषय में प्रवृत्त न होता हुआ प्रत्यक्ष उनका अभाव सूचित करता है, उसी प्रकार वह प्रकृति आदि के विषय में भी प्रवृत्त न होने के कारण उनका भी अभाव सूचित करता है। तब सामान्यतोदृष्ट आदि से उनकी सिद्धि कैसे की जा सकती है? इसका उत्तर सांख्य कारिका (7) में देते हैं—अत्याधिक दूर, अथवा समीप होने से, इन्द्रियों के नाश या चित्त की अस्थिरता से, सूक्ष्म होने से बीच में किसी रुकावट के आ जाने से, आक्रान्त (तिरस्कृत) हो जाने से और सदृश वस्तु में

<sup>1</sup> सांख्यकारिका (तत्त्वकौमुदी) व्याख्या, साहित्यभण्डार मेरठ।

मिल जाने इत्यादि से भी वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता।<sup>1</sup> किसी वस्तु के उपलब्ध न होने के साथ ही उसका अभाव घोषित कर देना बुद्धिमत्ता नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष का विषय न होने भर से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता, क्योंकि ऐसा हो जाने से अतिप्रसंग दोष आ जाएगा। जैसे घर से बाहर गये हुए पुरुष को घर के व्यक्ति के न दिखाई पड़ने पर उसके अभाव का निश्चय हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता अपितु प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के प्रत्यक्ष न होने पर ही उसके अभाव का उसे निश्चय होता है। प्रकृति पुरुष इत्यादि प्रत्यक्ष योग्य नहीं है इसलिए प्रत्यक्ष का विषय न होने से ही उनके अभाव का निश्चय कर लेना प्रामाणिक पुरुषों को उचित नहीं। उक्त विभिन्न कारणों को चरक सूक्त (11) में इस प्रकार परिगणित किया गया है।<sup>2</sup>

इन कारणों में वह कौन सा कारण है जो प्रधान तत्त्व (प्रकृति) के दृष्टिगोचर होने में बाधक है, किसी वस्तु की अनुपलब्धि, या तो अभाव के कारण होती है या अतिदूरता आदि के कारणवश होती है। यतः प्रकृति दृष्टिगोचर नहीं होती अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि प्रकृति अपने अभाव या अन्य किसी कारण से दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रकृति अपनी सूक्ष्मता के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती, क्योंकि अत्यधिक सूक्ष्म पदार्थ को इन्द्रियाँ अपना विषय नहीं बना पाती द्रष्टव्य कारिका—

“सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धे ।

महदादि तच्च कार्यं प्रकृति सरूप विरूप च ॥”<sup>3</sup>

<sup>1</sup> अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघानान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराण्य ॥”

<sup>2</sup> सताच्च रूपाणामतिसन्निकर्णादतिविप्रकर्णादावरणात् करण दौर्बल्यात् मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादति सौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धि (सू० 11)

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका—8



पुनः शका होती है कि ऐसा ही क्यों माना जाय कि वह अपने सूक्ष्मता के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती यही क्यों न मान लिया जाये कि वह अपने अभाव के कारण नहीं दीखती। यतः उसके कार्य से उसकी सत्ता का ज्ञान हो जाता है। कार्य को देखकर अनुमान (सामान्यतोदृष्ट अनुमान) प्रमाण से उसके कारण की सत्ता के सम्बन्ध में ज्ञान हो जाता है। अतः प्रकृति के कार्य को देखकर कारण रूप प्रकृति की सत्ता की जानकारी हो जाती है। प्रकृति के कार्य महत्तत्त्व अहंकार आदि हैं जो बुद्धि आदि के रूप में अनुभवगम्य हैं और इनसे इनकी कारण रूपा प्रकृति की सत्ता का ज्ञान हो जाता है।

2.4 क<sup>1</sup>: इस दृश्यमान जगत् में देखने को मिलता है कि व्यक्त वही होता है जिसका कोई व्यक्तित्व या प्रकट रूप होता है। व्यक्त अर्थात् प्रकृति के कार्यरूप (महत् आदि) अपने किसी कारण से उत्पन्न, विनाशशील अव्यापक, क्रियाओं से युक्त सख्या में अधिक अपने वर्तमान रूप में अपने मूल रूप या कारण पर अवलंबित, अपने मूल रूप या कारण की सत्ता का सूचक, अवयव युक्त परतत्र अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने में अपने कारण की सहायता की अपेक्षा रखने वाला है। और अव्यक्त व्यक्तित्व या प्रकटरूप से विहीन (प्रधान या जडतत्त्व) इसके विपरीत या उल्टा है अर्थात् अहेतुमत् या स्वयं मूलकारण, नित्य व्यापक, निष्क्रिय या क्रियाविहीन एक अनाश्रित अलिग या असूचक निरवयव एव स्वतंत्र है।<sup>2</sup> जो कार्य होता है वह स्वभावतः अनित्य होता है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है, और उत्पत्ति के पूर्व वह सत् होते

<sup>1</sup> हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रित लिङ्गम्।

सावयव परतन्त्र व्यक्त विपरीतमव्यक्तम्॥ - सांख्यकारिका - 10

<sup>2</sup> कारिका-10 पर टीका सांख्यकारिका (तत्त्वकौमुदी सहित) साहित्य भण्डार मेरठ।

हुए भी अपने वर्तमान रूप में नहीं था जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। व्यक्तित्व तो अनिवार्य रूप से सीमाओं में बंधा होता है।

अव्यक्त जो कि किसी व्यक्तित्व को नहीं रखता है, स्वभावतः इन विशेषताओं से विपरीत होता है। अव्यक्त होने के कारण वह अहेतुमत अर्थात् कारण रहित होते हुए स्वयं मूलकारण और नित्य होता है। किसी व्यक्तित्व को न रखने के कारण वह असीम या व्यापक होता है, व्यापक होने के कारण उसके स्पन्दन या संचलन के लिए अवकाश या स्थान अवशिष्ट नहीं रहता फलतः वह निष्क्रिय होता है। स्वयं मूलकारण होने के कारण किसी पर आश्रित नहीं रहता वरन् स्वाश्रित होता है। अव्यक्त का कोई व्यक्तित्व नहीं होता अतः उसके कोई अवयव या हिस्से नहीं होते फलतः वह निरवयव होता है। अव्यक्त स्वयं मूलकारण होता है अतः वह अपनी प्रवृत्ति के लिए किसी के अधीन नहीं अर्थात् वह परतन्त्र न रहकर स्वतंत्र होता है।

अव्यक्त व व्यक्त में साम्य भी है क्योंकि सांख्य सत्त्व, रजस, तमस, इन तीन गुणों की समष्टि को प्रकृति (अव्यक्त) मानता है। ये गुण शब्द के सामान्यतः वाच्य 'धर्म' के रूप में न होकर धर्मादर द्रव्य के समान हैं। ये त्रिगुण सत्त्व, रज्, तम्, मूल रूप में अव्यक्त रहते हैं अतः इनकी समष्टि भी अव्यक्त है। ये गुण अव्यक्त के धर्म न होकर उसके स्वरूप के घटक या संघटक तत्त्व हैं। जैसा कि सांख्यसूत्र में वर्णित है—'सत्त्वादीनामधर्मत्वं तद्रूपत्वात्'<sup>1</sup> व 'एते प्रधान शब्दवाच्या भवन्ति।'<sup>2</sup> जिस प्रकार वृक्षों की समष्टिरूप वन और उसके घटक वृक्षों में अन्तर न होते हुए भी वन का

<sup>1</sup> सांख्यसूत्र, 6/39.

<sup>2</sup> योगसूत्र 2/18 पर व्यासभाष्य

वहवो वृक्षा अस्येति (बहुवृक्षम्) कहा जाता है। इसी प्रकार साख्यभिमत अव्यक्त त्रिगुण रूप है। और उसका विकसित रूप व्यक्त भी स्वभावतः त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रजस व तमस् युक्त है। अव्यक्त में गुणों के भी अव्यक्त रूप रहने के कारण उनके धर्म क्रमशः प्रीति या सुख, अप्रीति या दुःख एवं विषाद या मोह अव्यक्त रूप में रहते हैं और व्यक्त में अर्थात् अव्यक्त की व्यक्तावस्था में गुणों के व्यक्त होने के कारण उनके उक्त प्रीति या सुख आदि धर्म व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्षतः अनुभूयमान हो जाते हैं और अनुभूयमान होते हुए अपने धर्मों सत्त्व आदि गुणों की सत्ता का अनुमान करा देते हैं। इस प्रकार से व्यक्त और अव्यक्त के त्रिगुणात्मक होने के कारण उनका स्वरूप विविक्त न होकर असंहत स्वरूप वाले एक ही एकात्मक तत्त्व के रूप में न होकर अविविक्त है। ये तीनों गुण या तत्त्व ऐसे अविविक्त या अविवेच्य रूप से अव्यक्त और उसके विकसित रूप व्यक्त के स्वरूप में हैं। फलतः इन दोनों व्यक्त और अव्यक्त का स्वरूप अविवेकि है।

“त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधान तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।”<sup>1</sup>

ये दोनों (अव्यक्त व व्यक्त) अचेतन या जड हैं तथा अनुभव के विषय हैं ये प्रसवधर्मि या परिणामशील हैं, अतः इनसे प्रसव (उत्पत्ति) होता रहता है। सृष्टि की अवस्था में तो अव्यक्त से महत् आदि व्यक्त पदार्थों का और महत् आदि से अन्य व्यक्त पदार्थों का प्रसव (उत्पत्ति) होता ही है, प्रलयावस्था में जब केवल अव्यक्त रह

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका-11

जाता है, तब भी अव्यक्त में गुणों का सदृश परिणाम रूप प्रसव होता रहता है।

सांख्याभिमत पुरुष व्यक्त व अव्यक्त से विपरीत है वह त्रिगुण न होकर निर्गुण है। वह संकीर्ण स्वभाव वाला न होकर एक तत्त्व के रूप में विविक्त या असांकीर्ण स्वभाव वाला है। वह ज्ञान का विषय नहीं वरन् विषयों का अनुभव प्राप्त करता है। पुरुषों में प्रत्येक का अपना-अपना स्वरूप अपने द्वारा ज्ञेय या अनुभाव्य होने से वह विशिष्ट है। व अचेतन न होकर चेतन है प्रसव धर्मी न होकर निर्विकार कूटस्थ तत्त्व है। इस प्रकार यहाँ व्यक्त अव्यक्त के साथ सांख्याभिमत पुरुष तत्त्व का उनसे विभेद बताया गया है। यद्यपि यह सिद्ध हुआ जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने जिस कारण के रूप में सत् था, उस कारण का स्वरूप क्या है, क्या उसका स्वरूप सांख्याभिमत स्वरूप के समान ही है या अन्य वेदान्तादि 'ब्रह्म' अथवा किसी अन्य दर्शन के द्वारा स्वीकृत कोई अन्य तत्त्व।

पूर्व में बताया गया कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् का स्वभाव क्रमशः सुख, दुःख एवं मोह है तथा इनका प्रयोजन क्रमशः प्रकाश प्रवृत्ति एवं नियमन है। इस जगत् में प्रत्येक व्यक्त पदार्थ के विषय में यह अनुभूत होता है कि वह सुख, दुःख व मोह स्वभाव वाला है। अस्तु व्यक्त पदार्थ भी त्रिगुणात्मक है, क्योंकि व्यक्त पदार्थ में गुणों की विशिष्टता है। अतः त्रिगुणत्व एवं अविवेकित्व आदि धर्मों से युक्त व्यक्त रूप कार्य के आधार पर यह स्पष्टतः सूचित होता है कि इसका कारण भी त्रिगुणत्व अविवेकित्व, विषयत्व सामान्यत्व अचेतनत्व एवं प्रसवधर्म से युक्त है और यही सांख्याभिमत अव्यक्त या प्रधान का स्वरूप है। सांख्यकारिका-14 में भी स्पष्टतः उल्लिखित है।<sup>1</sup>

<sup>1</sup> अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात्तद्विपर्याभावात्।

कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्॥ - सांख्यकारिका, 14

प्रकृति (प्रधान तत्त्व) स्वरूपतः अव्यक्त है। इस जगत् में जितने भी भेद या कार्य हैं वे सब परिमित या सीमाओं में आबद्ध होते हैं। सीमाओं में आबद्ध होना ही व्यक्त होना है। वस्तुतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल कारण ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि मूल कारण को असीमित या अपरिमित मानना ही होगा ऐसा न मानने पर तो वह कार्य होगा। जिस प्रकार मिट्टी के घट में घट के आकार से विहीन मिट्टी का समन्यवय या अनुप्रवेश दिखाई पड़ता है अर्थात् कार्य रूप पदार्थ किसी न किसी आकार को रखते हैं। स्वरूपतः अव्यक्त होने के कारण 'अव्यक्त' शब्द भी सांख्याभिमत मूल कारण का एक रूढ़ अभिधान हो गया है। यह त्रिगुणामक 'अव्यक्त' सदा परिणत होता रहता है, परिणामरहित यह क्षणभर भी नहीं रह सकता। अर्थात् इसके गुणों का इस प्रकार से सदृश परिणाम होता है कि सत्त्व गुण का सत्त्व गुण के रूप में रजो का रजोगुण के रूप में और तमोगुण का तमोगुण के रूप में। सृष्टि की अवस्था में इस अव्यक्त का किसी एक गुण या किन्हीं गुणों के समुदाय अर्थात् आधिक्य उद्भव के रूप में विसदृश या विषम परिणाम होता है।

विभिन्न युक्तियों के आधार पर, सांख्य प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करता है।<sup>1</sup>

### 1. भेदानां परिमाणात्

बुद्धि एवं मन से लेकर पृथ्वी पर्यन्त, ससार के सभी सूक्ष्माति सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ परिमित, परिच्छिन्न परतंत्र एवं सापेक्ष हैं। इनका कारण कोई परिमित परिच्छिन्न परतन्त्र एवं सापेक्ष तत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि वे स्वयं सकारण हैं। अतः

<sup>1</sup> भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।

कारणकार्यविभागादविभागाद वैश्वरूपस्य ॥ -सांख्यकारिका-15

इन पदार्थों का कारण एक ऐसा अपरिमित, स्वतंत्र अपरिच्छिन्न एवं निरपेक्ष तत्त्व ही हो सकता है जो अकारण हो, सांख्य के अनुसार ऐसा तत्त्व प्रकृति ही है।

## 2. समन्वयात्

संसार के सभी दृष्टव्य पदार्थ सुख-दुख व मोहरूप हैं, इनका कारण ऐसा तत्त्व ही हो सकता है, जिसमें सत्त्व, रजस्, एवं तमस् गुणों का समन्वय होता हो, क्योंकि संसार के सभी विषय सत्त्वरजतमसात्मक हैं, ऐसा तत्त्व प्रकृति ही है क्योंकि वह त्रिगुणात्मिका है।

## 3. शक्तितः प्रवृत्तेः

जैसा कि सत्कार्यवाद के सन्दर्भ में उल्लेख किया जा चुका है कि समर्थकारण से ही किसी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है जैसे दही को उत्पन्न करने में दूध ही समर्थ है पानी नहीं, इसके आधार पर संसार के सभी सूक्ष्म या स्थूल पदार्थों का कारण एक ऐसा तत्त्व हो सकता है जिसमें उन्हें उत्पन्न करने की शक्ति हो। सांख्यानुसार यह समर्थ कारण अव्यक्त प्रकृति ही है।

## 4. कारणकार्य विभागात्

संसार में कारण और कार्य में भेद दिखाई देता है, प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होता है। उस कारण का भी कोई कारण होता है। यह कारण-कार्य श्रृंखला अनन्त तक नहीं जा सकती, अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। अतः संसार की सभी वस्तुओं का एक मूलभूत कारण है जिसका कोई अन्य कारण नहीं, सांख्यदर्शन के अनुसार यह कारण अव्यक्त प्रकृति है।

## 5 अविभाग द्वैश्वरूपस्य

साख्य, कारणकार्य के विषय में दो तथ्यों को स्वीकार करता है— प्रथम, कारण से कार्य उत्पन्न होता है और द्वितीय नष्ट होने पर कार्य पुनः कारण में विलीन हो जाता है जैसे मिट्टी का घड़ा नष्ट होने पर पुनः मृत्तिका रूप हो जाता है। इस आधार पर साख्य का यह कथन है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक ऐसे कारण से उत्पन्न होना चाहिए, जिसमें वह प्रलयावस्था में पुनः विलीन हो सके। इसे ही प्रकृति कहा गया है। साख्य उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करता है जो चेतन पुरुष के अतिरिक्त समस्त जड—जगत् का कारण है।

श्रुति प्रमाण से भी प्रकृति की सत्ता सिद्ध है। 'तदैक्षत बहुस्या ब्रजा येयेति तत्तेजोऽसृजत्' इस श्रुति कथन का 'तत्' शब्द सर्वकारण भूत प्रधान को ही बताता है क्योंकि सत्त्व गुण युक्त होने और परिणामी होने के कारण प्रधान में ज्ञानशक्ति दोनों हैं ब्रह्मा में नहीं।<sup>1</sup> श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि प्रधान क्षर है और अविनाशी अमृत, इन दोनों का एक ही देव नियमन करता है।<sup>2</sup> यहाँ प्रधान का अर्थ प्रकृति है। इसी उपनिषद् में कहा गया है—जगत् कारण की मीमांसा करते हुए ब्रह्मवादियों ने जिस माया शक्ति का साक्षात्कार किया वह देव की आत्मभूता शक्ति है।<sup>3</sup> महाभारत में प्रकृति को सत्त्वरूपा विषयो को उत्पन्न करने वाली कहा गया है, किंतु यह क्षेत्रज्ञ अर्थात् ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित की गयी है। ईश्वर उदासीन भाव

<sup>1</sup> ब्रह्मसूत्र, 1/1 पर शांकर भाष्य

<sup>2</sup> श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/10

<sup>3</sup> श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/3 तेध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणेनिगूढाम्।

से इसका साक्षी है।<sup>1</sup> दोनों ही प्रकृति और जीव अनादि और तत्त्व कहकर व्याख्यात किये गये हैं।<sup>2</sup> गीता में जगत् के उपादान कारण प्रकृति एवं जगन्निमित्त के रूप में पुरुष का वर्णन हुआ है। प्रकृति ब्रह्म की ही माया शक्ति है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार के अन्तरगत प्रकृति-पुरुष का विवेचन चेतन-अचेतन, तमः प्रकाश और विकारी-अविकारी रूप में हुआ है।<sup>3</sup> जीव प्रकृति एवं जड़-प्रकृति दोनों ही परब्रह्म के अन्तर्गत समाहित है। गीता में प्रकृति पुरुष दोनों को ही अनादि कहा गया है। इस प्रकार श्रुति, गीता और महाभारत में प्रकृति को कहीं भी तुच्छ या मिथ्या नहीं कहा गया है। योगसूत्र में कारण रूप प्रकृति को नित्य कहा गया है—‘निःसत्ताऽसत्तं चालिंगपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः। नालिङ्गावस्थायादोपुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवति। नासो पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते।’<sup>4</sup> अभिप्राय यह है कि कारणरूप प्रकृति नित्य है। यह अभिव्यक्ति से रहित किन्तु भावरूप है। पुरुष और प्रकृति की नित्यता में अन्तर है—‘कूटस्थ नित्यत्वादि पारमार्थिक सत्.....तच्च सत्त्वं प्रधानं नास्ति’<sup>5</sup> अर्थात् पुरुष कूटस्थ नित्य है और प्रकृति कूटस्थ नित्य नहीं है। प्रकृति परिणामिनित्य है। परिणामिनित्य का अर्थ है— प्रकृति महदादि तत्त्वान्तर की आरंभक होते हुए भी नित्य है। महदादि विकारों के रूप में निरन्तर परिणमित होती रहती है। इससे प्रकृति की नित्यता में कोई कमी नहीं आती, जैसे—मृत्तिका से कितने ही घट क्यों न बना लिये जायं फिर भी उसमें (मृत्तिका) कोई कमी नहीं आने पाती।

<sup>1</sup> महाभारत—12/241/1, 12/290/109, 110.

<sup>2</sup> महाभारत—12/295/2, 12.

<sup>3</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय—13.

<sup>4</sup> योगसूत्र 2/19

<sup>5</sup> योगवार्तिक, पृ० 205.



इस प्रकार प्रकृति निरंतर परिणाम को प्राप्त करती हुयी भी नित्य है। माठरवृत्ति में कहा गया है—“अहेतुमन्नित्यो व्यापी निष्क्रिय एकोऽनाश्रितोऽलिंगो निरवयवः”<sup>1</sup> प्रकृति का निरवयव अनाश्रित अलिंग एवं व्यापी होना उसके स्वतंत्र अस्तित्व का द्योतक है।

2.5 : सांख्य का आक्षेप यह है कि जगत् का मूल कारण वस्तु रूप होना चाहिए। वे अवस्तु और अभाव एवं वस्तु और भाव को समानार्थी मानते हैं। सांख्यानुसार जगत् के कारण का सत् होना आवश्यक है—क्योंकि कार्य कारण की अभिव्यक्त अवस्था है, और कारण, कार्य की सूक्ष्म अवस्था है। प्रलयकाल में जब यह कार्य दृश्यमान नहीं होता, तब अपने कारण में सूक्ष्मतया स्थित रहता है। यह कारण शुद्ध चेतन तत्त्व तो हो नहीं सकता, क्योंकि चेतन तत्त्व निर्गुण निष्क्रिय, निर्विकार एवं कूटस्थ है। त्रिगुणात्मक (सुख, दुःख, मोहात्मक) जगत् के कारण को स्वतंत्र एवं भावरूप मानना आवश्यक है। यह कारण अतीन्द्रिय है, सूक्ष्म अव्यक्त परमाणु आदिवत् सूक्ष्म नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। दैशिककालिक अवयव का न होना ही सूक्ष्मता का द्योतक है। इसीलिए महान योगी पुरुष को ही इसका प्रत्यक्ष होता है। योगी पुरुष बुद्धि के माध्यम से महदादि विकारों एवं अव्यक्त प्रकृति का पूर्णरूपेण साक्षात्कार करता है और पुरुष एवं अव्यक्त में विवेक करता है।<sup>2</sup> अभिप्राय यह है कि सूक्ष्मतम अव्यक्त तत्त्व वस्तुतः अस्तित्व रखता है तभी तो योगी को उसका साक्षात्कार होता है। श्रुति, स्मृति एवं पुराणों में जगत् कारण के रूप में प्रकृति की चर्चा की गयी है—

<sup>1</sup> सांख्यकारिका, 15 एवं 16 पर माठरवृत्ति

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका 44

‘प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वचनादि उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव, विद्धि प्रकृति सम्भवान् ।’<sup>1</sup>

गीता में प्रकृति को महद ब्रह्म (अर्थात् योनि के रूप में महान रचयिता) कहा गया है।<sup>2</sup> तथा देवीभागवत् पुराण में प्रकृति को सर्गादिकर्त्री कहा गया है<sup>3</sup>—

“सृष्ट्वाखिलजगदिदंसदसत्स्वरूपम्

शक्त्या स्वया त्रिगुणया परिपाति विश्वम् ।

सहृत्त्यकल्पसमये रमते तथैका

तां सर्वभूतजननीं मनसा स्मरामि ॥

महाभारत में कहा गया है सर्ग और प्रलय धर्मवाला अव्यक्त ही अविद्या है समस्त विकार प्राकृतिक हैं।<sup>4</sup> सत्त्व, रजस्, तमस्, ये तीनों गुण कारणभूत प्रकृति से उत्पन्न होकर देवता, मनुष्य आदि समस्त भूतों में समान रूप से निवास करते हैं।<sup>5</sup> कारण के भावरूप रहने पर ही उससे सम्बद्ध सद्रूप प्रपञ्च की सिद्धि हो सकती है क्योंकि अभाव से, सद्रूप प्रतीत होने वाले जगत् का सम्बन्ध असम्भव हो जाएगा<sup>6</sup>

2.6 : सांख्य शास्त्रीय ग्रन्थ में प्रकृति को यदा कदा अमृत कहा गया है।<sup>7</sup>

‘परिणामित्वेन हि पुरुषापेक्षया प्रकृतिरसतीति।’ वृहन्नारदीय एवं सौर वाक्यों को उद्धृत करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि इन वाक्यों में माया को जो सदसद से

<sup>1</sup> श्रीमद्भगवद्गीता/13/19.

<sup>2</sup> श्रीमद्भगवद्गीता/14/3

<sup>3</sup> देवीभागवत्पुराण/2/5

<sup>4</sup> महाभारत, 12/307/2, 12/238/1.

<sup>5</sup> सांख्य में सत्त्व, रजस्, तमस्, ये तीनों गुण प्रकृति रूप ही कहे गए हैं किन्तु यहाँ पर उन्हें प्रकृति से उत्पन्न कहा गया है। यदि हम गुणों का अर्थ महदादि विकार करें तो असंगति दूर हो सकती है।

<sup>6</sup> सांख्य सूत्र 1/80.

<sup>7</sup> सांख्य प्रवचन भाष्य 1/68.

विलक्षण, सनातनी मिथ्या कहा गया है।<sup>1</sup> उसका अर्थ है श्रुति वाक्यों से सिद्ध माया पुरुषवत् कूटस्थ सत् नहीं है क्योंकि विकारों से प्रतिक्षण उसका परिवर्तन होता रहता है। सृष्टिकाल में परिणमनशील तो है ही प्रलयकाल में भी नित्य परिवर्तनशील है। जडतत्त्व का असतत्त्व यदि साख्य में कही कहा गया है तो वह विकारत्वेन ही कहा गया है कारणत्वेन नहीं।

विकार ही असत्त्व का द्योतक है—‘प्रकृत्यादिरसत् सर्वे जडार्थोऽब्धोत्तरगवत्।’<sup>2</sup>

महाभारत में कहा गया है सृष्टि—प्रलय प्रकृति से ही होते हैं इसलिए कारणत्वेन इसे अक्षर एवं विकारत्वेन इसे क्षर कहते हैं।<sup>3</sup>

2.7 : प्रकृति की उत्पत्ति या उद्भव के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं—यथा सृष्टि का आरंभ कब से हुआ? प्रकृति की उत्पत्ति कब से हुई? क्या जगत् के उपादान का भी कोई कारण है? यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान केवल यही है कि सृष्टि प्रवाह अनादि है। गीता में वर्णित है—संसार वृक्ष का जैसा स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है वैसा यहाँ विचार करने पर नहीं उपलब्ध होता क्योंकि न इसका आदि है न अन्त, न अच्छी प्रकार से स्थिति है।<sup>4</sup> महाभारत और पुराणों में जगत्कारण को अलिङ्ग एवं अनादि कहा गया है।<sup>5</sup>

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण प्रकृति पुरुष दोनों को अनादि कहते हैं।<sup>6</sup>

<sup>1</sup> नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवाभ्यात्मिका सद्सद्भ्यामनिर्वच्यमानिर्वच्यामिथ्याभूत सनातनी (सोरवाक्य 11/29) इसी प्रकार बृहन्नारदीय वाक्य भी है।

<sup>2</sup> साख्यसार, उत्तर भाग 2/7/8

<sup>3</sup> महाभारत 12/295/12, 12/295/13

<sup>4</sup> ब्रह्मसूत्र, शाकरभाष्य 2/1/36 में उद्धृत गीता का श्लोक (15/3)

<sup>5</sup> महाभारत—12/292/40, पुराणों में कहा गया है कि अतीत अनागत कल्पों का परिणाम नहीं है। ब्र० सू० शा० भा० 2/1/36 ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य

<sup>6</sup> श्रीमद्भगवद्गीता 18/19

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि यह विषय मनुष्यों के लिए ही नहीं देवताओं के लिए भी दुर्गोच्य है। देव इस सृष्टि के पश्चात् हुए अतः सृष्टि के उद्भव के विषय में कौन जा सकता है।<sup>1</sup> 'मूलप्रकृति में से भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विशिष्ट होकर मूल प्रकृति में विलीन हो जाने का नाम विनाश है। प्रकृति की साम्यावस्था में विक्रोभ होने के परिणामस्वरूप विश्व अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों के साथ विकसित होता है, और युग की समाप्ति पर पदार्थ विपरीत गति द्वारा विकास की अपनी पूर्व स्थिति में लौट जाते हैं और अन्त में प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। प्रकृति तब तक इस दशा में रहती है जब तक कि नये विश्व के विकसित होने का समय नहीं आता। विकास तथा पुनर्विलय का यह चक्र अनादि तथा अनन्त है।<sup>2</sup> देशकाल की उद्भावना सृष्टि के पश्चात् हुई इसलिए सृष्टि का प्रारंभ हम प्राणियों के लिए एक रहस्य ही है।<sup>3</sup> सांख्यमत में माया (प्रकृति) मूलतः चेतनतत्त्व (परमेश्वर) के समानान्तर की (निराम्भ) अनादि और स्वतन्त्र सत्ता है।<sup>4</sup> सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 23 तत्त्वों का मूलकारण प्रधान, मूल शून्य (कारण रहित) स्वतन्त्र एवं अनादि अभ्युपगत है।<sup>5</sup> सांख्यमत में प्रकृति अलिंग है, क्योंकि इसका लय अन्य किसी कारण में नहीं होता। श्वेताश्वतर श्रुति में इसे 'अजा' कहा गया है। इन सबका यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति का उद्भव या आरंभ नहीं होता।

<sup>1</sup> को अद्व वेद क इह प्रवोचत्, सृष्टि सूक्त, 10/129/2

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 241

<sup>3</sup> अनादौ तु संसारे बीजाकुरवत् ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 2/1/55.

<sup>4</sup> बालगंगाधर तिलक, गीता रहस्य

<sup>5</sup> सांख्यसूत्र 1/67

प्रकृति अनादितत्त्व इस दृष्टि से भी उपयुक्त है कि यह मुक्त पुरुषो के प्रति अर्थहीन होते हुए भी अन्य बद्ध पुरुषो के लिए यथावत रहती है।<sup>1</sup> पुरुषो के प्रति अर्थहीन होते हुए भी अन्य बद्ध पुरुषो के लिए यथावत रहती है। यदि यह सयोग एक पुरुष के साथ होता तो उसके मुक्त होने पर यह सयोग समाप्त हो जाता।<sup>2</sup> किन्तु यह असंख्य पुरुषो के साथ प्रकृति का सयोग प्रवाह बना ही रहता है क्योंकि गणित का यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि अनन्त संख्या से किसी संख्या के घटाने पर भी उसका अनन्तत्व समाप्त नहीं होता।<sup>3</sup> श्रुति भी कहती है—“ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमदुच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।”

सृष्टि के अनन्तर प्रलय, पुनः सृष्टि तत्पश्चात् प्रलय इस प्रकार सृष्टि का अनवरत प्रवाह सृष्टि का अनादितत्त्व ही सिद्ध करता है।

2.8 : संसार के सभी पदार्थ गतिमान एवं सतत् परिवर्तनशील हैं। जैसे—सूर्य चन्द्र, पृथ्वी एवं अन्य नक्षत्रगण आदि। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का जीवन, ऋतुएँ ये सभी एक स्थिति में कभी नहीं रहते इनमें होने वाले परिवर्तन प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होते हैं। पदार्थों में परिवर्तन के लिए गति किसके कारण होती है? क्या यह चेतन तत्त्व के कारण है? यह नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन तत्त्व तो निष्क्रिय, कूटस्थ निर्विकार, सर्वत्र, सर्वदा एकरस, एवं असंग है। तो क्या यह परिवर्तन या विकार अचेतन तत्त्व के कारण है? ऐसा निश्चित होता है कि यह परिवर्तन अचेतन तत्त्व के

<sup>1</sup> योगसूत्र, 2/22, तत्त्ववैशारदी, पृ० 224 उद्धृत, योगसूत्र पर योगसिद्धि नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव कृत।

<sup>2</sup> योगसूत्र, 2/17

<sup>3</sup> डॉ० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव पातञ्जल योगदर्शनम्, योगसिद्धि नामक व्याख्या, पृ० 239

कारण है, क्योंकि इसे प्रसवधर्मी एवं विकारशील कहा गया है।<sup>1</sup> अतः अब संक्षेपतः प्रकृति के कर्तृत्व के विषय में चर्चा की जाएगी। महाभारत में सांख्यदर्शन का विवेचन करते हुए यह स्पष्टतः कथन है कि प्रकृति ही शुभाशुभ फल की जनक है और कर्म करती है। तीनों लोकों में इच्छानुसार गमनकर्त्री वही उन सब कर्मों का फल भोगती है।<sup>2</sup> प्रकृति की सत्ता सर्वोच्च सत्ता द्वारा अधिष्ठित है<sup>3</sup> आत्मा उदासीन है प्रकृति से संयुक्त होने के कारण ही चेतन तत्त्व प्रकृति कृत तत्त्वों को अपना मानने लगता है। कर्तव्य आत्मा में आरोपित है। गीता में भी आत्मा को निष्क्रिय एवं उदासीन कहकर उसमें कर्तव्य का परमार्थतः निषेध किया गया है। समस्त कर्म प्रकृति के द्वारा किए जाते हैं, अहंकार से मोहित हुआ जीवन अपने को कर्त्ता मानने लगता है। सम्पूर्ण गुण एवं कर्म विभाग प्रकृतिकृत हैं। पुरुष निर्लोप एवं गुणातीत है।<sup>4</sup> वह चेतन तत्त्व, निर्गुण होने पर भी ईश्वर की योग माया से गुणों का भोक्ता बनता है। कर्त्ता न होने पर भी पुरुष त्रिगुणात्मक पदार्थों का भोग करता है—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्<sup>5</sup> पुराणों में भी प्रकृति को क्रियाशील कहा गया है—प्रकृति में ही पापपुण्य होते हैं किन्तु प्रकृति से अपना पार्थक्य न जानने के कारण जीव प्रकृति के पाप पुण्य आदि को अपना समझने लगता है और बन्धन में फँसता है।<sup>6</sup> प्रकृति के गुणों की स्वाभाविक गति से उत्पन्न परिवर्तनों का कर्त्ता पुरुष स्वयं को संकल्पित

<sup>1</sup> गुण कर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः सांख्यकारिका 20

<sup>2</sup> प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभ फलात्मकम्।

प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिपुलोकेषु कामगा। महाभारत, 12/292/40

<sup>3</sup> 'एतेनाधिष्ठितश्चैव सृजतेसंहरत्यापि'—महाभारत, 12/302/12.

<sup>4</sup> श्रीमद्भगवद्गीता -3/29, 4/13.

<sup>5</sup> महाभारत, 12/20, 21, 22.

<sup>6</sup> वायुपुराण 1/4/17-22

कर लेता है।<sup>1</sup> जीव का यह अविवेक ही उसके संसार दशा और पुर्नजन्म का हेतु है।

इसी तथ्य का प्रतिपादन निम्न लिखित श्लोकों में किया गया है—

“प्रकृत्याञ्चैव तत्सर्वं पुण्यं पापं प्रतिष्ठिति।

यौन्यवस्था स्वभावे च देहिनान्तु निषिध्यते।।”

विष्णुपुराण में भी कहा गया है—पुरुष सर्ग कर्म का निमित्त मात्र है, सभी सृज्यशक्तियों का कारण प्रधान तत्त्व है।<sup>2</sup>

सांख्यशास्त्र के ग्रन्थों में पुरुष को असंग, निर्गुण, व निष्क्रिय माना गया है। सांख्य के अनुसार प्रकृति ही सभी कर्मों के फलों का भोग करती है। उसमें ही समस्त कर्म हैं। पुरुष केवल अभिमान एवं अविद्यावश इन्हें अपना समझने लगता है। क्रिया का आश्रय प्रकृति में ही है। यदि क्रिया प्रकृति में न हो तो कार्यों की उत्पत्ति असम्भव हो जाएगी। अतः प्रकृति प्रसवधर्मी, सक्रिय एवं परिणमनशील है—“गुणकर्तृत्वं च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः”<sup>3</sup> योगसूत्र (4/33) के भाष्य में व्यास जी का कथन है—कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही नित्य हैं। पुरुष कूटस्थ नित्य है और प्रकृति परिणामिनित्य। परिणामिनित्यता, अर्थात् जिसके परिणत होने पर भी तत्त्व नष्ट नहीं होता।<sup>4</sup> डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है— प्रकृति परिणमन शीलजगत् का आधार है यह अविश्रान्त क्रियाशील जगत् के तनाव की प्रतीक है। यह बिना चेतनता, बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के बराबर क्रियाशील रहती है, यह ऐसे लक्ष्य के प्र-

<sup>1</sup> भागवत पुराण—3/26.

<sup>2</sup> विष्णुपुराण 1/4/51.

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—20.

<sup>4</sup> योगसूत्र पर भाष्य— युक्तिदीपिकाकारिका—17

क्रियाशील है जिसे यह समझती नहीं।<sup>1</sup> यसोगसूत्र भाष्य में कहा गया है कि गुण स्वभावतः ही चंचल हैं अपने चंचल स्वभाव के कारण ही प्रलयावस्था में भी गुण परिणमित होते रहते हैं।

गुणों की क्रियाओं का साक्षीभूत यह पुरुष बुद्धि द्वारा समर्पित भोगों के अतिरिक्त शुद्ध तत्त्व दर्शन की कल्पना भी नहीं करता। सत्त्वादयो गुणा कर्तारस्ते सयुक्त पुरुषोऽपि अकर्ताऽपि कर्ताभवति। कर्तृ ससर्गात् कर्तेव परे परमार्थतया अकर्ता पुरुषः।<sup>2</sup>

गौडपादभाष्य में भी कहा गया है—गुणानां कर्तृत्वे सति उदासीनाऽपि पुरुषः कर्तेव भवति, न कर्ता। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पुरुष जब कर्ता नहीं है तो उसका कर्तृत्व क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर है, जिस प्रकार ससार में घट शीतलता से सयुक्त होकर शीतल उष्णता से सयुक्त होकर उष्ण हो जाता है उसी प्रकार पुरुष से सयुक्त होकर प्रकृति चेतनवत् हो जाती है।

जब समस्त कर्म प्रकृति द्वारा ही किए जाते हैं तो पुरुष के बधन का कारण ये किस प्रकार बन जाते हैं? पुरुष इनका भोक्ता क्यों बन जाता है? क्योंकि पुरुष प्रकृति द्वारा किये हुए कर्म को अज्ञानवश अपना समझने लगता है। क्रिया के आश्रय प्रधान को साख्यकारिका में व्यक्त की अपेक्षा निष्क्रिय कहा गया है।<sup>3</sup> वहाँ निष्क्रिय का अर्थ है प्रधान आदि कारण है विभु और सर्वव्याप्त है। अतः वह परिस्पन्दन रूप

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग-2 पृ० 227

<sup>2</sup> साख्यकारिका-20 पर माठरवृत्ति

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका-10



क्रिया से रहित है—‘यद्यप्यत्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणक्रिया तथाऽपि परिस्पन्दो नास्ति।’<sup>1</sup> अर्थात् प्रवेश एव निःसरण रूप क्रिया से रहित है। बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीर का आश्रय लेकर पूर्व ग्रहण किए गए स्थूल शरीर को मृत्योपरांत त्याग कर पुनः शरीर ग्रहण करते हैं। प्रकृति सर्वगत होने से अपने कार्यों से अभिन्न है, अतः इस दृष्टि से उसको निष्क्रिय कहा गया है। प्रकृति जड़ होने से स्वयं अपने ही विकृतियों की भोक्त्री नहीं हो सकती।

चेतन तत्त्व ही अनुभूति और बोध करने की शक्ति रखता है। इस तर्क के अनुसार भोक्तृत्व तो पुरुष का कहा जाता है, किन्तु विकारी एव प्रसवधर्मी होने के कारण कर्तृत्व प्रकृति में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सांख्य प्रकृति को क्रिया का आश्रय दो कारणों से मानता है—

1. प्रकृति को ही सम्पूर्ण विकारों का आश्रय मानने का प्रथम कारण यह है कि समस्त विकार प्रकृति से ही उद्भूत एवं उसी में तिरोभूत होते हैं।
2. पुरुष पूर्णतः निर्विकार एवं असंग हो जाता है यदि कर्तृत्व पुरुष में मानें तो कैवल्य की स्थिति में पुरुष का नितान्त उदासीन तथा निर्लिप्त होना असम्भव हो जाएगा।<sup>2</sup>

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रकृति के कर्तृत्व पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—सांख्य मत में जगत् का कर्तृत्व प्रकृति में है चेतन पुरुष उसका भोक्ता है। श्रुति और महाभारतादि में जो वर्णन मिलता है, उसमें ईश्वराधिष्ठित अचेतन

<sup>1</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका—10

<sup>2</sup> पुरुषो न प्रवर्तते नापिनिवर्तते।

एव गुणभेदात् प्रकृति कर्त्री न पुरुषः। सांख्य तत्त्व विवेचन, पृष्ठ 23 (सांख्य सग्रह)

प्रकृति का कर्तृत्व स्वीकार किया गया है। प्रकृति अचेतन है वह कोई भी कार्य बिना किसी चेतन के नियन्त्रण के नहीं कर सकती। जगत् में भी देखा जा सकता है जड़ पदार्थ और चेतन दोनों ही भिन्न तत्त्व हैं तथा चेतन तत्त्व स्वयं को कर्त्ता मानने लगता है प्रकृति में ही वस्तुतः क्रिया का आश्रय विद्यमान है।

2.9 : सांख्य दर्शन में जगत्कारण प्रकृति को एक ही माना गया है। इसमें दो तत्त्वों की चर्चा हुई है—प्रथम, प्रकृति एवं दूसरा पुरुष तत्त्व। सांख्य में यह सिद्ध किया गया कि पुरुष जगत् का उपादान नहीं हो सकता। अतः प्रकृति जो प्रसवधर्मी, जड़ एवं अचेतन है आदि कही गयी है वही सम्पूर्ण विश्व के उद्भव का कारण है। जिस प्रकार समस्त स्वर्ण विकारों की उत्पत्ति एवं तिरोभाव स्वर्ण से ही होता है, उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थों का लय स्थान प्रकृति ही है। सांख्य वेत्ता प्रायः अजामेकाम<sup>0</sup> इत्यादि श्वेताश्वतर श्रुति को उद्धृत करते हैं जिसका तात्पर्य है—एक उत्पत्ति रहित प्रकृति तत्त्व। महाभारत के अनुसार ज्ञान में रत सांख्यवादी अव्यक्त का एकत्व एवं पुरुष का नानात्व कहा करते हैं तथा प्रकृति पुरुष की भिन्नता भी प्रतिपादित करते हैं,<sup>1</sup> इसी ग्रन्थ में प्रकृति और जीव को अनादि अनन्त और ईश्वर कह गया है। प्रलयावस्था में गुणों के गुणों में लीन हो जाने पर एक मात्र प्रकृति ही रह जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति एक है जो समस्त जड़ जगत् का कारण है। योगसूत्र भाष्य में कहा गया है कि जिस प्रकार सोने के भिन्न प्रकार नहीं होते, सोने के बनाए जाने वाले पात्र ही भिन्न प्रकार के होते हैं। उसी प्रकार धर्मी

<sup>1</sup> महाभारत 12/303/12-13

अव्यक्त एक ही तत्त्व है जिससे अनेक विकार उत्पन्न होते हैं।<sup>1</sup>

सांख्यकारिका में अव्यक्त कार्यो का व्यक्त से भेद बताते हुए कहा गया है व्यक्त उत्पन्न होने वाला है अनेक है इसके विपरीत अव्यक्त एक है—विपरीत व्यक्तम्।<sup>2</sup> सभी कार्य प्रकृति से आविर्भूत होते हैं। उसी में तिरोभूत होते हैं। इसके विकार अनेक हैं, किन्तु इन विकारों का कारण एकमात्र प्रकृति ही है।<sup>3</sup> प्रकृति की निरवयवता भी प्रकृति का एकत्व सिद्ध करती है। निरवयव कहने का तात्पर्य यह है कि अनेक तत्वों के अन्योन्य मिथुन से इसकी रचना नहीं हुआ करती उसे अनित्य नहीं कह सकते।<sup>4</sup> त्रिगुणों के कारण यह शका हो सकती है प्रकृति भी अनेक रूपों वाली है इसका निराकरण सांख्य में यह दिया गया है कि वस्तुतः सत्त्वादि त्रिगुण न तो प्रकृति के धर्म हैं न ही अवयव हैं वरन् ये प्रकृति स्वरूप ही हैं। त्रिगुण समष्टि ही प्रकृति है। प्रकृति के ये तीनों गुण मिथुनी भाव से रहते हैं।<sup>5</sup>

प्रकृति की व्यापकता, अपरिच्छिन्नता, निरवयवता और स्वतंत्रता से एक ऐसे तत्त्व की सिद्धि होती है जिसमें सम्पूर्ण कार्य समूह रहते हैं। सभी सर्गों की मूल प्रकृति या यद्यपि भिन्न-भिन्न नहीं है किन्तु उस मूल प्रकृति की अभिव्यक्तियाँ हर सर्ग में भिन्न-भिन्न रहती हैं।

कहीं कहीं पर गुणों को प्रकृति से उत्पन्न कहा गया है।<sup>6</sup> यह महत्तत्त्वादि के कारणभूत सत्त्वादि को स्पष्ट करने के लिए ही कहा गया है अन्यथा गुणों की

<sup>1</sup> योगसूत्र, 3/1 पर व्यास भाष्य

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-10

<sup>3</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्यसूत्र, 1/68 पर प्रवचन भाष्य

<sup>4</sup> सांख्यदर्शनम्, पृष्ठ 649

<sup>5</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका-12

<sup>6</sup> महाभारत, भागवतपुराण-11/24/5

नित्यता प्रतिपादित करने वाले सम्पूर्ण वाक्यों से होता है। इसका आशय कार्यों को सत्त्वादिपरक मानना युक्ति सगत है।<sup>1</sup>

गुणत्रय अभिव्यक्ति रूप से अनेक है मूलतः एक है, यदि एक-एक व्यक्तिरूप सत्त्वादित्रय को माने तो वृद्धि ह्रास की भी उत्पत्ति असम्भव है।<sup>2</sup> गुणों को व्यापक माना जाये तो एक-एक व्यक्ति रूप इनका अपने आप संयोग वैचित्र्य नहीं हो सकता।

सत्त्व, रजस्, तमस् गुण ये तीनों ही असंख्य व्यक्ति रूप हैं। असंख्य होने पर भी वे तीन प्रकार की विशिष्ट विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं, अर्थात् गुण तीन नहीं गुणों के प्रकार तीन हैं।<sup>3</sup> (त्रिगुण) कारण द्रव्यों में से प्रत्येक का अनेक व्यक्तित्व सिद्ध है। यथा सत्त्व गुण का लघुत्व प्रकाशकत्वादि धर्मों के कारण साधर्म्य है और उत्तेजकत्व और प्रेरकत्व रूप धर्म वाले रजो गुण से इसका वैधर्म्य है। यदि ये गुण एक व्यक्ति रूप न होते तो लघुत्वादि धर्मों के द्वारा साधर्म्य प्रतिपादन की कोई आवश्यकता ही न होती।<sup>4</sup> प्रकृति की अनेक अभिव्यक्तियाँ पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त की तरह नहीं हैं। एक पुरुष का दूसरे पुरुष सजातीय भेद है लेकिन प्रत्येक सर्ग की प्रकृति एक दूसरे से अभिन्न है। अतः प्रकृति एकत्व सिद्धान्त की हानि नहीं होती।<sup>5</sup>

<sup>1</sup> सत्त्वादीनाप्रकृतिकार्यत्ववचनन्तु गुणनित्यता वाक्यनिरोधम् महत्तत्त्व कारणीभूतकार्य सत्त्वादिपरमेव। सांख्यसार पृ०-23

<sup>2</sup> गुणानां सत्त्वादिनामेकैकव्यक्तिमात्रत्वे वृद्धिह्रासादिकं नोपपद्यते  
(सांख्यप्रवचन भाष्य-पृष्ठ 1/126)

<sup>3</sup> सत्त्वादीयसंख्यव्यक्तिकान्येव द्रव्याणि।

<sup>4</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्यप्रवचन भाष्य, सांख्यसूत्र, 1/128

<sup>5</sup> अतः प्रकृतेरनेकव्यक्तित्वेऽपि नैकत्वक्षतिः—(सांख्य प्रवचन भाष्य 1/126)

श्री लोकमान्य तिलक के शब्दों में “वह प्रकृति सदैव एक से एक लगी हुई—बीच में थोड़ा—सा भी अन्तर न छोड़ती हुई एक समान ही है अथवा यह कहा जा सकता है कि वह अव्यक्त (इन्द्रियागोचर) और निरवयव है।

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वह प्रधान तत्त्व (प्रकृति) समस्त जागतिक पदार्थों की जननी है तथा सांख्यानुसार उसका एकत्व प्रायः सिद्ध है।

---

## तृतीय अध्याय

प्रकृति के त्रिगुण

3.1 : गुणों का स्वरूप

क. सत्त्व

ख. रजस्

ग. तमस्

3.2 : गुणों का आधुनिक विज्ञान के  
तत्त्वों से साम्य

3.3 : गुणों का परिणाम

3.4 : गुण संख्या के विषय में मतभेद

सांख्य मतानुसार जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। और वह मूल तत्त्व प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था ही है, अतः जगत् की सृष्टि में गुणों की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। गुण हमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते वरन् उनका अनुमान किया जाता है। गुण तीन हैं—सत्त्व, रजस् व तमस्। ईश्वर कृष्ण सांख्य कारिका में तीनों गुणों का स्वरूप और रंग भी बताते हैं। सत्त्व गुण लघु, प्रकाशक और आनन्ददायक होता है, रजोगुण दुःखदायी और गतिशील होता है, तथा तमोगुण भारी (गुरु) और अवरोधक होता है। सांख्यशास्त्र का परम प्रयोजन ही दुःख निवारण है। जगत् में व्याप्त दुःख जगत् के साथ ही नित्य हैं। ये दुःख तीन प्रकार का है<sup>1</sup>—आध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा आधिदैविक। ये दुःख रजो गुण के ही परिणाम हैं। इसीलिए जगद्व्यापी इस गुण के कारण जगत् दुःखमय है। जगत् में सुख, दुःख व मोह इन गुणों के ही परिणाम हैं। अतः सुखात्मक, दुःखात्मक व मोहात्मक अनुभूति से गुणों की सत्ता सिद्ध है।

साधारणतः गुण का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है परन्तु सांख्य ने गुण शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। गुण का अर्थ यहाँ तत्त्व या द्रव्य समझा गया है। गुण प्रकृति के तत्त्व हैं अथवा द्रव्य हैं। इन्हें प्रकृति द्रव्य का गुण समझना भ्रान्तिमूलक है। गुण स्वयं प्रकृति के द्रव्य हैं, क्योंकि उनका संयोग और वियोग होता है। सांख्यसूत्र<sup>2</sup> में भी उल्लेख है गुण अव्यक्त या प्रधान के धर्म न होकर तद्रूप ही हैं।

<sup>1</sup> दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

—सांख्यकारिका—1.

<sup>2</sup> सत्त्वादीनामदर्भत्वं तद्रूपत्वात्—सांख्यसूत्र 6/39

डॉ० दासगुप्त<sup>1</sup> के निम्न कथन से इस बात की पुष्टि होती है “इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि सांख्य-दर्शन में गुणों का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। यहाँ गुण को द्रव्य के अनुरूप माना गया है।” गुण प्रकृति की सत्ता का निर्माण करते हैं। गुणों के अभाव में प्रकृति की कल्पना करना असम्भव है। तीनों गुणों की समावस्था को ही प्रकृति कहा जाता है (सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति) लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि तीनों गुणों का वैषम्य होने पर (जैसा कि सृष्टि के समय होता है), प्रकृति का विनाश हो जाएगा। यह वैषम्य भी वस्तुतः प्रकृति का ही विकार है इसलिए इसे प्रकृति को ही दूसरी अवस्था ‘विकृति’ (विकार) माना गया है, जो प्रकृति में मूल रूप से किसी भी माने में भिन्न नहीं। साम्यावस्था वस्तुतः ‘मूलप्रकृति’ के लिए कही गयी है। ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। जो सदैव वर्तमान रहते हैं।<sup>2</sup> विज्ञानभिक्षु ने इसे अकार्यावस्था का रूप बताया है (अकार्यावस्थेति निष्कर्षः)। गुण न्याय वैशेषिक के अर्थ में गुण नहीं है। पुरुष के लिए उपकरण स्वरूप (गौण) होने के कारण व परार्थ होने के कारण गुण कहा गया है।<sup>3</sup> सांख्य प्रवचन भाष्य<sup>4</sup> के अनुसार सत्त्व, रजस् और तसम् इस अर्थ में गुण है कि ये रस्सी के तीनों गुणों (देशों) के समान पुरुष को बांधने का कार्य करते हैं। चूंकि ये पुरुष के उद्देश्य-साधन में गौण रूप से सहायक हैं, इसलिए भी उन्हें गुण कहा जाता है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार पुरुष की अपेक्षा गौण होने के कारण भी इन्हें गुण कहा गया है। त्रिगुण का स्वरूप एवं लक्षण इस प्रकार है—

<sup>1</sup> Dr. S.N. Dass Gupta, History of Indian philosophy Vol-I. P. 243.

<sup>2</sup> सत्त्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृतिः सदा। सांख्य प्रवचन भाष्य (सूत्र 1/61) में उद्धृत।

<sup>3</sup> गुणाः इति परार्थाः। सांख्य तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका-12

<sup>4</sup> पुरुषपशुबन्धकत्रिगुणात्मकमहदादिरज्जुनिर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते-सांख्य प्रवचन भाष्य-1/61



### 3.1 : प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाश प्रवृत्ति नियमार्थाः ।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुन वृत्तयश्च गुणाः ।।<sup>1</sup> योगसूत्रकार के अनुसार—

“प्रकाशक्रियारिथितीशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्”<sup>2</sup>

प्रकाशशीलंसत्त्वं । क्रियाशीलं रजः । रिथितीशीलं तमः इति ।<sup>3</sup>

अर्थात् सत्त्वादि गुणत्रय क्रमशः सुख-दुख मोहात्मक हैं। इनके कार्य हैं—प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन करना। ये गुण परस्पर एक दूसरे के अभिभावक हैं। जैसे सत्त्व, रजस् और तमस् को अभिभूत करके अपनी शान्तवृत्ति को प्राप्त करता है। वैसे ही रजस्, सत्त्व और तमस् को अभिभूत करके अपनी दुःखात्मिका वृत्ति को एवं तमस् सत्त्व और रजस् को दबाकर अपनी मोह या विषादात्मक वृत्ति को प्राप्त करता है। तीनों ही एक दूसरे के आश्रय<sup>4</sup> बनने वाले हैं अर्थात् एक दूसरे के कार्य में सहायक बनते हैं तीनों गुण परस्पर एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा करते हुए परिणाम उत्पन्न करते हैं। परिणाम चाहे—स्वरूप हो या विरूप अर्थात् प्रलयकालीन या सृष्टि कालीन परिणाम हों यह गुणत्रय की कार्यकारिता का परिणाम है। जिस प्रकार दीपक में तेल, बत्ती, और ज्वाला परस्पर विरोधी होते हुए भी सहयोग करके प्रकाश उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी पारस्परिक सहयोग से सांसारिक विषयों को उत्पन्न करते हैं। सब एक दूसरे से मिले रहते हैं, सब सर्वत्र जाते हैं। रजस् का साथी सत्त्व और रजस् दोनों है, सत्त्व और रजस् का साथी तमस् कहा जाता है, न तो इनके संयोग का ही कभी प्रारंभ हुआ और न कभी

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—12

<sup>2</sup> योगसूत्र—1 / 18

<sup>3</sup> योगसूत्र—1 / 18 पर व्यास भाष्य

<sup>4</sup> आश्रय का तात्पर्य है—सहकारी बनना। सांख्य तत्त्व कौमुदी 12 वीं कारिका

इनका वियोग ही होता है अर्थात् ये अनादि काल से परस्पर संयुक्त रहते हैं कभी वियुक्त नहीं होते—

“अन्योन्यमिथुना सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः ।

रजसोमिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।

तमश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे ।

उभयोः सत्त्वरजसोमिथुनु तम उच्यते ।

नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते”<sup>1</sup>

सांख्यकारिका में त्रिगुण के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

“सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।”<sup>2</sup>

अर्थात् सत्त्व गुण हल्का और फलतः प्रकाशक है, रजोगुण क्रियाशील और फलतः प्रेरक या प्रवर्त्तक है, तमोगुण भारी और फलतः नियामक या अवरोधक है । प्रयोजनवश इन गुणों का दीपक के समान कार्य या व्यवहार है ।

3.1 क : सत्त्व गुण प्रकाश का प्रतीक है यह स्वतः प्रकाशित है और अन्य विषयों को भी प्रकाशित करता है । सत्त्व के कारण मन तथा बुद्धि विषयों को ग्रहण करते हैं । इसका रंग श्वेत है । यह सुख का कारण होता है । सत्त्व गुण के कारण ही सूर्य द्वारा संसार को प्रकाशित करने और दर्पण में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति आती है । सत्त्व गुण लघुता (हल्कापन) का प्रतीक है । अतः हल्केपन के कारण ऊर्ध्वगमन

<sup>1</sup> देवीभागवत पुराण—3/18

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्य कारिका—13

सत्त्व गुण का ही कार्य है। यथा मन की उन्नति अग्निज्वाला धुँएँ आदि का ऊपर उठना सत्त्व गुण के कारण ही सम्भव है। यह आनन्ददायक है सुख का कारण है। सभी प्रकार की सुखात्मक अनुभूतियाँ—हर्ष, उल्लास, प्रीति, श्रद्धा, सरलता आदि—सत्त्व गुण के कारण सम्भव होती हैं। जिस वस्तु में सत्त्व की अधिकता होती है, वह प्रकाशमय सुख देने वाली तथा हल्की होती है।<sup>1</sup> अव्यक्त और सूक्ष्म व्यक्त पदार्थों में भले ही इन प्रकाश आदि का अनुभव साधारणतया नहीं हो पाता, किन्तु ये रहते उनमें भी हैं और स्थूल व्यक्त पदार्थों में तो इनका अनुभव स्पष्टतः होता ही है। यदि इन पदार्थों में सत्त्व गुण न हो तो उनकी सत्ता या स्वरूप का प्रकाशन ही न हो पाए। जिन बाह्य या आन्तरिक पदार्थों में सत्त्व गुण की मात्रा अधिक होती है, वे अपने कम सत्त्व वाले पदार्थों को भी प्रकाशित करते रहते हैं। यतः सत्त्व गुण प्रकाशक होने के कारण इस प्रकार के प्रकाश में भी सहायक बनता है। श्रीमद्भगवद्गीता<sup>2</sup> में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्त्व गुण को प्रकाशक और अनामय कहा है ।

3.1 ख : रजो गुण स्वयं गतिशील है और अन्य वस्तुओं को भी गतिशील बनाता है। इस प्रकार यह क्रिया का प्रवर्तक है। हवा का बहना, मन का चंचल होना, इन्द्रियों में अपने विषयों की ओर प्रवृत्ति रजस् के ही कारण है। रजस्, सत्त्व और तमस् जो कि निष्क्रिय हैं, को सक्रिय करता है। यह दुःखात्मक है। मनुष्य को जितने प्रकार के दुःखों की अनुभूति होती है उन सबका मूल कारण रजो गुण है।<sup>3</sup> दुःखात्मक

<sup>1</sup> यथा—‘सत्त्वं नाम प्रसादलाघवामिष्यङ्ग प्रीतितितिक्षासन्तोषादिरुपानन्त

समासतः सुखात्मकम्।’

—सांख्य प्रवचन भाष्य, पृष्ठ 63.

<sup>2</sup> ‘तत्र सत्त्व निर्मलत्वाप्रकाशकमनामयम्’

—श्रीमद्भगवद्गीता—14/6.

<sup>3</sup> एवं रजोपिऽशोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकमिति ।

—सांख्यप्रवचन भाष्य, पृष्ठ 63.

अनुभूतियों यथा—क्रोध, द्वेष, विषाद, असन्तोष अतृप्ति मान, मद मत्सर आदि रजस् के करण उत्पन्न होती है। रजो गुण चंचलता (प्रवृत्तिशील) तथा उपष्टम्भक या उकसाने वाला होता है। यह उत्तेजक होने का गुण उसके चल स्वभाव से सम्बन्धित है।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त जिन पदार्थों में रजोगुण की मात्रा अधिक होती है, अपने से कम रजोगुण वाले पदार्थों को भी उत्तेजित कर क्रियाशील या गतिशील बनाये रहेगा और फलतः न तो कभी इनका स्वरूप ही स्थित रह सकेगा और न इनके द्वारा व्यवस्थित रूप से कार्य ही हो सकेगा।

**3.1 ग :** तमस् अज्ञान अथवा अन्धकार का प्रतीक है। यदि सत्त्व गुण के साथ रजोगुण ही रहे तो परिवर्तन की गति में कोई नियन्त्रण ही न रह जाये और न ही कार्य की दिशा ही सुनियोजित रूप में रह सके। इसीलिए तमोगुण जो गति का अवरोधक है, की आवश्यकता होती है। सत्त्व गुण के ठीक विपरीत यह गुरु (भारी) तथा प्रकाश का आवरक होता है।<sup>2</sup> योग दर्शन में भी इन्हें क्रमशः प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति इन स्वभावों वाला बताया गया है जो विभिन्न अंशों में एक दूसरे से मिले रहते हैं।<sup>3</sup>

डॉ० राधाकृष्णन का भी मत है कि “तमो गुण वह है जो क्रियाशीलता में बाधा पहुँचाता है तथा उदासीनता अथवा निरुत्साह उत्पन्न करता है। यह आलस्य की ओर ले जाता है।” निद्रादि अनेक भेदों वाला तमोगुण संक्षेपतः मोहात्मक कहलाता है।<sup>4</sup>

<sup>1</sup> उपष्टम्भक चल च रज । —सांख्यकारिका—13

<sup>2</sup> गुरुवरणकमेव तम । सांख्यकारिका—13

<sup>3</sup> प्रकाशशील सत्त्वम् क्रियाशील रज । स्थितिशील तम इति ।  
—योगसूत्र भाष्य—(2-18)

<sup>4</sup> एव तमोऽपि निद्रादिनाभेद समासतो मोहात्मकमिति ।  
—सांख्यप्रवचन भाष्य—पृ० 63

गुणों में स्वभावतः विरोध स्पष्ट है फिर ये नित्यरूप से संयुक्त ही रहते हैं, अतः परस्पर इनका संयोग या विभाग नहीं हो सकता। ये एक दूसरे का तिरस्कार भी करते हैं, उपकार भी करते हैं और परस्पर सहयोग करके सारे पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। यथा—दीपक बत्ती का उदाहरण पूर्व में उद्धृत है। उदाहरणार्थ—सत्त्वगुण की प्रतीक पतिव्रता सुन्दरी अपने पति को सुखी, सपत्नी को दुःखी एवं अन्य कामी पुरुष को मोहित (विषण्ण) करती है। रजोगुण का प्रतीक वीर योद्धा अपनी वीरता से स्वजनों को सुखी, शत्रुओं को दुःखी तथा अन्यो को मोहित करता है ; और तमोगुण का प्रतीक 'मेघ' आकाश को आच्छादित करके निदाघ—संतप्त लोगों को सुखी, कृषकों को क्रियाशील तथा विरह निमग्नो को विषण्ण करता है।

रसकालीन कवि ने एक दोहे में प्रेयसी के नयनों को माध्यम से इन तीनों गुणों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है।<sup>1</sup> वे कहते हैं कि प्रेयसी के नयनों में श्वेत श्याम और लाल तीनों रंग झलक रहे हैं उनमें अमृत हलाहल और मदिरा भरी हुई है; वे जिसे एक बार देख लेते हैं वह व्यक्ति मिलन की आशा में जीता है, निराशा में मरता है तथा विरह वेदना में झुक-झुक कर तड़पता है। सत्त्व गुण श्वेत है, अमृतमय है ; रजोगुण लाल है, मदिरा के समान है, प्रेम मद में तड़पता है ; तमोगुण श्यामवर्ण है विष के समान है।<sup>2</sup>

तीनों गुण इस प्रकार सहकारी हैं तथा एक दूसरे के आश्रय से अपना कार्य करते हैं। इन तीनों को केवल परस्परापेक्षा ही नहीं, बल्कि इनका एक दूसरे से अलग

<sup>1</sup> डॉ० सी० डी० शर्मा, उद्धृत—भारतीयदर्शन : आलोचना और अनुशीलन, पृ० 143

<sup>2</sup> "अमी—हलाहल—मदभरे श्वेत—श्याम—रतनार।

जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।"

रहना सम्भव ही नहीं। ये सहचर हैं, प्रत्येक शेष दो का मिथुन है। इनका स्वभाव ही वस्तुतः इनका अस्तित्व ही है।<sup>1</sup> गुणों के इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठरवृत्ति (त्रिदण्ड विष्टम्भवदमीवेदितत्या इति), तथा परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित सुवर्ण सप्तति शास्त्र (इमे गुणाः परस्पराश्रयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाः यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिकादीन् अवष्टम्भाति) में मिलता है। जिस प्रकार तिरछे खड़े किए गये तीन दण्डों या खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घट को अपने-अपने रूपर सम्भालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। 'अन्योन्याजननवृत्तयः' का अर्थ जैसा तत्त्वकौमुदी में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने किया है। एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले अर्थात् एक दूसरे के परिणाम में सहकारी है। किन्तु 'अन्योन्यजनन वृत्तयः' का भी परस्पर सहकारी ही अर्थ है। इस प्रकार पुनरावृत्ति दोष की आपत्ति होती है। इसलिए कौमुदीकार ने जनन पद का 'सदृशरूप परिणाम' अर्थ करके यह स्पष्ट किया है कि परस्पर सहकारित्व उनके अहंकार इत्यादि विरूप परिणाम की अवस्था के लिये कहा गया है। और नित्य सहकारित्व स्वरूप अर्थात् सत्त्वादि रूप से ही परिणत होने की प्रलयकालीन अवस्था के लिए कहा गया है। इसलिए यहाँ पुनरावृत्ति दोष नहीं है। इस स्वरूप परिणाम की प्रलयकालीन अवस्था का ही नाम प्रकृति है। क्योंकि इस अवस्था में तीनों गुण प्रकृति रूप से ही अवस्थित रहते हैं। सृष्टिकालीन बुद्धि अहंकार इत्यादि विकृति या स्वभिन्न तत्त्व के रूप में नहीं परिणत होते। इस प्रकार

<sup>1</sup> अन्योऽन्याभिभवाश्रय जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।

जब प्रकृति तथा तीनों गुणों में तादाम्य या अभेद हुआ तब कारण कार्य भाव कहाँ सिद्ध हुआ? इसलिए प्रकृति-रूप स्वरूप परिणाम को अहेतु और नित्य कहा है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब तीनों गुण तथा उनके प्रकृति रूप परिणाम में कोई भेद ही नहीं है या दूसरे शब्दों में यों कहें कि जब तीनों गुण प्रलयकाल में किसी नये तत्व को उत्पन्न नहीं करते तब उस अवस्था में व्यर्थ परिणाम मानने से क्या लाभ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तीनों गुणों में कृत्यावस्था में कोई परिणाम या क्रिया नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टिकाल में उनमें यह मान्य सिद्धान्त है कि जो जिसमें है वह उसमें कभी भी नहीं हो सकता। एवं जिसमें है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। यही कारण है कि दशम् कारिका में इन गुणों को सक्रिय कहा गया है। जिसका व्याख्यान कौमुदीकार में परिस्पन्दवत् शब्द के द्वारा किया है। परस्पर मिथुन वृत्तयः का अर्थ है कि ये तीनों ही गुण एक दूसरे के सहचर या एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं। इसमें देवी भागवत् प्रमाण है। सभी गुण परस्पर मुग्ध भाव से रहते हैं। सभी गुण महत् अहंकार इत्यादि सभी कार्यों में व्याप्त हैं।<sup>1</sup>

3.2 : मूल प्रकृति केवल कारणावस्था है। यह अव्यक्तावस्था में जगत् का मूल स्वरूप ही है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपनी विकृति की अवस्था में भी त्रिगुणात्मिका ही होती है। जगत् की यह अव्यक्तावस्था हमें बरबस आधुनिक विज्ञान की ऊर्जा (Energy) की याद दिला देती है, जिससे सारे जगत् के सभी आनुभविक तथ्य निर्मित लगते हैं। इसे ऊर्जा के रूप के समानान्तर जगत् की रचनात्मिका शक्ति माना जा सकता

<sup>1</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्यदर्शन पर्यालोचन, पृ० 197-98.

है। जगत् के क्रियाकारो मे अनुस्यूत ये मानो प्राकृतिक मूल सिद्धान्त ही सारी गति का नियमन करते हो। महर्षि अरविन्द ने तो इन्हे न्यूटन के गति के तीनो प्राकृतिक नियमो के समानान्तर माना भी है। ये नियम शक्ति के वस्तुओ के ऊपर क्रियाओ के फलस्वरूप निर्धारित है। गणित के गतिविज्ञान मे इन्हे क्रमशः जडत्व, त्वरण तथा प्रतिक्रिया कहा गया है। इन गणितीय नियमो का प्राकृतिक कारण जो भौतिकी मे है वह सहति आवेग तथा प्रतिबल (Stress) के रूप मे जाने गये है। प्रकृति के व्यापारो की तीन विधाओ के रूप मे इन्हें सत्त्व, रजस् तथा तमस् के समानान्तर रखा जा सकता है। जब तक कोई बाहरी बल नही काम करता तब तक वस्तुएं अपने स्वाभाविक दशा में (चाहे यह कोई विशेष गति हो या स्थिति) कोई परिवर्तन नहीं चाहतीं। यह उनमें जडत्व के द्वारा बताया गया है। इसी प्रकार बल के बाहरी प्रयोग से उनमे 'आवेग' आ जाता है। और वे गति मे उत्तरोत्तर परिवर्तन करती है जो उनको बल के अनुपात मे होता है। इस नियम का प्रभाव 'त्वरण' के रूप मे देखते हैं। इसी प्रकार बल के प्रयोग से ठीक विरोधी दिशा मे 'प्रतिक्रिया' करती है। जिसका कारण 'प्रतिबल' होता है। सांख्य के गुणो से पदार्थो के इन व्यवहारो के साथ कोई घनिष्ट सम्बन्ध तो नही लगता, परन्तु एकाग्रता की स्थिति मे निश्चल या शान्त अवस्था मे जो 'सुख' का प्रकाशन होता है सम्भवतः इसीलिए उसे 'जडत्व' के नियम से जोड दिया गया है। इसी प्रकार 'गति' मे परिवर्तन की अविश्रान्त या चंचल अवस्था को देखकर इसे 'रजोगुण' का प्रतिनिधित्व माना गया है। परन्तु प्रतिक्रिया तथा प्रतिबल की बात तो तमोगुण से बिल्कुल ही मेल नहीं खाती, इसीलिए कोई भी व्याख्या समुचित नहीं लगती क्योंकि बल जिस क्रिया का उत्पादन करता है उसका



प्रतिबल न तो निरोध करता है और न सदैव प्रतिक्रिया ही गतिविरोधी होती है। बल्कि कभी-कभी विरोधी दिशा में दो क्रियाएँ ही दिखाई पड़ती हैं जैसे बन्दूक की गोली चलाने पर या राकेट को उड़ाने के समय। इसी प्रकार 'जडत्व' सदैव शान्त अवस्था का प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् गतिशील वस्तुओं के लिए वह तो गति की सततता तथा अचरता की स्थापना करता है। प्रतिक्रिया को स्तब्धता से कभी नहीं मिलाया जा सकता है। इस प्रकार की स्थापना करनी हो तो 'जडत्व' को 'तमोगुण' से साम्य में लाना अधिक ठीक लगता है।

इसी प्रकार प्रतिबल को तनावपूर्ण स्थिति की प्रतिक्रिया मानकर जीवन की दुःखमयी परिस्थितियों से साम्य में रखा जा सकता है क्योंकि जीवन की सारी क्रियाएँ प्रतिक्रियाओं के रूप में व्याख्यात की जा सकती हैं। जब हम किसी स्वादिष्ट वस्तु को पाने की चेष्टा करते हैं तो हमारे अन्दर उत्पन्न तनाव की प्रतिक्रिया होती है। 'त्वरण' जीवनी शक्ति के प्रतीक में लाकर उसे 'प्रकाशन' से साम्य में लाया जा सकता है तथा प्रगति को सुख का मार्ग भी कहा गया है अतः इसे सत्त्व गुण का परिणाम कहा जा सकता है। जड वस्तुओं में सहति की अचरता तमोगुण का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार शायद 'प्रतिबल' को रजोगुण, 'त्वरण' को सत्त्व तथा 'जडत्व' को तमोगुण मानकर त्रिगुणों की और भी अच्छी व्याख्या का दावा किया जा सकता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि ये सारी व्याख्या खींचातानी से पूर्ण है तथा उन्हें सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है ये परिणाम बिल्कुल भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं में होते हैं इसलिए सब को एक साथ सहभावी मानना उचित भी नहीं लगता। आधुनिक आइन्स्टीनोत्तर विज्ञान हमें ऐसे धरातल पर पहुँचा देता है

जहाँ ये तीनों नियम अपना अस्तित्व तो नहीं परन्तु महत्त्व बिल्कुल ही खो बैठते हैं। प्रकृति के चरम तत्त्वों की इन विशेष नियमों के रूप में व्याख्या सगत नहीं लगती।

प्रकृति के अव्यक्त अवस्था का विज्ञान के ऊर्जा के रूप में मानकर उनके गुणों की व्याख्या में पूर्णता का दावा कदापि नहीं किया जा सकता। फिर भी जहाँ तक हमारी पहुँच 'ऊर्जा' के रूपों में गुणों की व्याख्या की जा सकती है। 'ऊर्जा' को हम सामान्यतः तरंगों के रूप में अनुभव में पाते हैं। वैसे सभी तरंगों को ऊर्जा के सामान्य नाम से कहा भी जा सकता है। प्रकाश की तरंगों को जो वस्तुतः विद्युचुम्बकीय के विशेष दृश्य परास (Range) के रूप में हैं, उन्हें 'सत्त्व' गुण का प्रतिनिधि प्रकाशन के कारण माना जा सकता है। इसी प्रकार ऊर्जा की अभिव्यक्ति के अन्य रूप (जो विद्युचुम्बकीय ही हैं उन्हें) क्रियाशील मानकर 'रजोगुण' का प्रतिनिधि मान सकते हैं। इसके उदाहरण में ताप की तरंगें विद्युत की धाराएँ आदि। इसी प्रकार भूत द्रव्य (Matter) का स्थूल रूप जो विज्ञान के तत्त्वों से बने हैं उन्हें 'तमोगुण' के अन्तरगत ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार सारा का सारा जगत् तरंगों से ही विनिर्मित है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रकृति के तीनों गुण जहाँ परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं वही वे 'ऊर्जा' के विभिन्न रूप हैं। अनुभव में आने वाले भूत पदार्थों का ऊर्जा से साम्य सैद्धान्तिक रूप से विज्ञान को मान्य भी है। विद्युतधारा का प्रयोग तो मशीनों आदि को गति में लाने के लिए भी किया जाता है उसी प्रकार 'प्रकाश' तथा 'ताप' की प्राप्ति के लिये भी करते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रजोगुण, तमोगुण तथा सत्त्वगुण दोनों को प्रवृत्ति में लाकर कार्यशील बना देता है।

3.3 : 'प्रकृति' के घटक तीनो गुण—सत्त्व, रजस् तथा तमस् नित्य है तथा ये हमेशा परिणमित होते रहते हैं, क्योंकि परिणाम इनका स्वभाव ही है। इनका यह परिणाम दो प्रकार का होता है— सदृश परिणाम व विसदृश परिणाम। प्रकृति की मूल कारणावस्था में (जबकि प्रलय की स्थिति होती है) इन तीनों के परिणाम 'सदृश' होते हैं।<sup>1</sup> प्रलयावस्था गुणों की साम्यावस्था है। इसमें प्रत्येक गुण अन्य से पृथक् होकर स्वतः अपने में परिणत हो जाता है। अर्थात् सत्त्व सत्त्व में रजस् रजस् में और तमस् तमस् में परिणत हो जाता है। सदृश परिणामों में गुणों से कोई कार्य (वस्तु) नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि कोई गुण अकेले परिणमित होकर भी किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। विसदृश परिणाम सृष्टि की अवस्था में होता है। इसमें सांसारिक विषयों का आविर्भाव होता है। विरूप परिणाम तब प्रारम्भ होता है जब पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ (गुणक्षोभ) उत्पन्न होता है। ये गुण 'गुणक्षोभ' की स्थिति में परस्पर क्रिया—प्रतिक्रिया करते हैं जिससे सृष्टि का विकास प्रारम्भ होता है।

जगत् का प्रक्रम एक विशुद्ध प्रवाहमात्र तथा प्रारूपविहीन सातत्य नहीं है। इसके पीछे विकास का एक नियम तथा अभिन्नता का एक ढांचा है। इन परिणामों के बावजूद भी गुण नित्य रहते हैं, क्योंकि जिसे परिणत होने पर भी तत्त्व नष्ट नहीं होता है उसे 'नित्य' कहा गया है।<sup>2</sup> लेकिन यह परिभाषित नित्यता तो पुरुष तथा

<sup>1</sup> प्रतिसर्गावस्थाया सत्त्व रजस्तमश्च सदृश परिणामानि भवन्ति।

परिणामस्वभावा हि गुणा ना परिणाय क्षणमप्यवतिष्ठन्ते?

<sup>2</sup> यस्मिन्य परिणम्यमाने तत्त्व न विहन्यते तन्नित्यम्।

—तत्त्वकौमुदी प्रभा (कारिका) 16.

—योगसूत्र 4/33 पर व्यास भाष्य

प्रकृति के लिए समान है, तो क्या दोनों एक समान नित्य है?

वस्तुतः नित्यता भी दो प्रकार की है— कूटस्थ नित्यता तथा परिणामिनित्यता। पुरुष एक ही स्वरूप में रहते हुए अवस्था क्रम से नहीं गुजरता, जबकि प्रकृति (गुण) भिन्न-भिन्न अवस्थाक्रमों में गुजरती रहती है फिर भी तत्त्व त्रिगुण बने रहते हैं। सदैव आस्तिभाव के कारण क्रम की श्रृंखला के रूप में नहीं दिखाई पड़ते। गुण पुरुष के भोगापवर्ग साधन के प्रयोजन से सदैव परिणमित होते रहते हैं। ये क्षण भर भी नहीं टिक<sup>1</sup> सकते। प्रकृति के अव्यक्त रूप से लेकर अभिव्यक्ति जगत् में ये परिणाम सदैव होते हैं।

यहाँ पर एक स्वाभाविक प्रश्न गुणों के इन परिणामों के सम्बन्ध में यह उठता है कि जो गुण प्रलयकाल में विषम या विविध प्रपञ्च कैसे उत्पन्न करने लगते हैं? इसका समाधान सांख्य कारिका 16वीं<sup>2</sup> (कारिकांश) में दिया गया है— 'परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रति गुणाश्रय विशेषात्' जिसका व्याख्यान आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में किया है कि जैसे मेघ का जल एक रस होने पर भी पृथ्वी पर नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, बिल्व, तिन्दुक (इमली), आँवला, प्राचीनामलक, कैथ इत्यादि का रस बन जाने पर मीठे, खट्टे, नमकीन, तिक्त, कषैले तथा कड़वे आदि अनेक प्रकार का हो जाता है। उसी प्रकार (प्रत्येक काल में) एक ही गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान को

<sup>1</sup> न हि कृत भोगापवर्ग, परिसमाप्तक्रमा क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते।

—योगयूत्र 4/32 पर व्यास भाष्य।

<sup>2</sup> यथाहि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तभूविकारानासाधनारिकेलतालतालीबिल्वचिरविल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलक—कपित्थफलरसतयापरिणमन्मधुराम्लत्ववणतिक्तकषायकदुतया विकल्पते, एवमेकेकगुण समुदभवात् प्रधान गुणमाश्रित्य अप्राधान्यगुणा परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति।

अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं।<sup>1</sup> यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि गुणों के विविध परिणाम में कारण बनने वाला उनका अगाधि भाव या गुण-प्रधान भाव तो पूर्वतः सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रलयकाल में वे एक-विध थे। कोई प्रधान इस रूप में नहीं था, फिर यह गुण प्रधान किस निमित्त से आया? इसका उत्तर 'प्रदीप वच्चार्थतो वृत्तिः' एवं 'पुरुषार्थहेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' कारिकांशों में दिया गया है। पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोगोन्मुख होने पर उनके भोग एवं भोगान्तर तत्त्व ज्ञान द्वारा अपवर्ग-इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और उससे विविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है।

3.4 : गुणों की संख्या के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। 'त्रिगुणात्मक' 'गुणोस्मिभिः' 'त्रीनेतान् गुणान्', 'त्रयोएते' आदि प्रयोग से महाभारत पुराण आदि में तीन ही गुण स्वीकार किये गये हैं। प्रो० हिरियन्ना का मत है कि न गुणों की धारणा जगत् के भौतिक पक्ष में दिखाई देने वाली विविधता की व्याख्या करने के लिए बनाई गयी है।<sup>2</sup> इन्हें तीन मानना केवल इस बात का सूचक है कि सृष्टि की व्याख्या के लिए आवश्यक तत्त्वों की संख्या इससे कम नहीं की जा सकती। यदि केवल एक गुण माना जाता है, तो विविधता की व्याख्या न हो पाती। यदि दो माने जाते तो या तो वे एक दूसरे को प्रभावहीन कर देते जिससे किसी भी तरह का परिणाम न हो पाता या एक दूसरे से प्रधान बना रहता, जिससे एक ही दिशा में एक ही प्रकार की गति होती रहती। 'तत्त्वसमास' में भी 'त्रैगुण्यम्' का ही प्रयोग है। इसके सभी टीकाकार

<sup>1</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, कारिका-16 पर तत्त्वकौमुदी, उद्धृत व्याख्या आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्य दर्शन पर्यालोचन, पृ० 115-116

<sup>2</sup> प्रो० हिरियन्ना, 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', पृ० 278

गुणों को सख्या में अनेक तथा त्रिविध रूप में विभक्त स्वीकार करते हैं।

दासगुप्त<sup>1</sup> के अनुसार गुण असंख्य हैं किन्तु उनके तीन प्रमुख लक्षणों के दृष्टिकोण से उन्हें तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। दासगुप्त<sup>2</sup> एवं अणिमासेन गुप्त<sup>3</sup> विज्ञान भिक्षु को गुणों के अनेक संख्यक मानने वाली विचारधारा का प्रवर्तक मानते हैं। किन्तु वाचस्पतिमिश्र, गौडपाद एवं सांख्य के अन्य टीकाकार इनको वर्ग न मानकर केवल त्रिगुण ही मानते हैं। और इनके अतिरिक्त किसी अन्य गुण को स्वीकार नहीं करते। प्रकृति के स्वरूप भूत त्रिगुण को अनेक संख्यक मानने वाली डॉ० अणिमासेन गुप्त<sup>4</sup> सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन को भी अपने पक्ष में उद्धृत करती है, जो नितान्त असंगत है, क्योंकि डॉ० राधाकृष्णन् गुणों को अनेक संख्य मानने वाले मत के विरुद्ध है। वे वाचस्पति मिश्र आदि के मार्ग का अनुशरण करते हैं तथा विज्ञान-भिक्षु के मत का स्पष्ट रूप से खण्डन करते हैं।<sup>5</sup>

दासगुप्त के इस विचार को तर्कसंगत नहीं माना जा सकता कि विज्ञानभिक्षु गुणों को अनेक संख्यक मानने वाले विचार के प्रवर्तक हैं क्योंकि 13वीं शती ईस्वी के समय से ही गुणों को सख्या में अनेक मानने वाले विचार विद्यमान थे। विज्ञानभिक्षु 16वीं शती ईस्वी के माने जाते हैं। इसलिए इन्हें उस विचार को पल्लवित करने वाला ही कहा जा सकता है, इसका उद्भावक नहीं।

सांख्यशास्त्र में जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है कि गुण तथा द्रव्य में अभेद है।

<sup>1</sup> Dr S N Dass Gupta, History of Indian philosophy, Vol II, P 222

<sup>2</sup> Dr S N Dass Gupta, History of Indian philosophy, Vol II, P 222 – 223

<sup>3</sup> Dr Arimasen Gupta, Evolution of Sankhya thought, P 19

<sup>4</sup> Dr Arimasen Gupta, Evolution of sankhya thought , P 19, 20

<sup>5</sup> डॉ० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग 2 पृ० 230

प्रायः सभी टीकाकार तथा सांख्य के अध्येता इस तथ्य से पूर्ण परिचित हैं। जगत् त्रिगुणात्मक है, इस कथन से द्रव्य ही विवक्षित है इसलिए द्रव्य या वस्तु के रूप में मानने के विषय में वाचस्पति मिश्र आदि विद्वान् मौन हैं, यह उचित नहीं। गुण प्रकृति स्वरूप होने के कारण द्रव्य-स्वरूप ही हैं।

प्रो० हिरियन्ना का विचार है कि गुणों को अनेक संख्यक मानकर इस सिद्धान्त को वैशेषिक परमाणुवाद के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।<sup>1</sup> किन्तु इससे सांख्य में स्वीकृत गुणों को क्षति पहुँचती है। परमाणु संख्या में अनेक होते हुए भी सीमित हैं। इनका सम्मेलन भी एक विशिष्ट काल में होता है, लेकिन गुण असीमित एवं सर्वदा परस्पर सम्पृक्त हैं। अतः गुणों एवं परमाणु को एक जैसा नहीं माना जा सकता।

जब त्रिगुण से ही सृष्टि की विविधता की व्याख्या की जा सकती है, तब इन्हें अनेक मानने की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रकार सांख्य में केवल तीन ही गुण स्वीकार किए गये हैं जबकि कुछ विद्वान् गुणों को अनेक सांख्यक मानकर उनको सत्त्वादि तीन वर्गों में वर्गीकृत करते हैं। विद्वानों को यथेच्छ मत स्वीकार करने की स्वतंत्रता है किन्तु जहाँ तक सांख्य के प्रामाणिक चिंतन का प्रश्न है वह सत्त्वादि को गुण ही स्वीकार करता है गुणों के वर्ग रूप में नहीं।

गुणों का स्वरूप विवेचन करते हुए डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं— “गुणों की न तो सृष्टि होती है और न नाश ही होता है। यद्यपि ठोस मूर्त रूप प्रकारों में धन एवं ऋण, वृद्धि एवं ह्रास, सम्भव है, जो परिवर्तन व्यवस्थापन तथा अन्तर्हित से वास्तविक

<sup>1</sup> प्रो० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा

में रूपान्तर के कारण होते हैं तो भी अन्तर्हित तथा वास्तविक मिलकर सदा एक समान ही रहते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे कि चौसर के खेल में होता है। पास सदा वही रहते हैं, किन्तु वे क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार से पड़ते हैं इसलिए उनका अर्थ हमारे लिए भिन्न-भिन्न होता है। समस्त परिवर्तन अनन्त काल से विद्यमान अनिवार्य सत्ताओं की स्थिति अवस्था, उनके वर्गीकरण मिश्रण तथा पृथक्करण से सम्बन्ध रखता है, जो सदा ही परस्पर संघटित तथा विघटित होती रहती है।<sup>1</sup>

---

<sup>1</sup> राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन-2, पृ० 230.



## चतुर्थ अध्याय

### पुरुष का स्वरूप

4.1 : सांख्य दर्शन का पुरुष, एवं अन्य

भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व

4.2 : पुरुष का अस्तित्व

4.3 : पुरुष बहुत्व

4.4 : निरीश्वरवादी सांख्य और पुरुष

4.5 : पुरुष और बुद्धि

4.6 : प्रकृति पुरुष सम्बन्ध

भारतीय दर्शन में सांख्य दर्शन एक द्वैतवादी विचारधारा के रूप में आख्यात है, जिसमें दो परस्पर स्वतंत्र और निरपेक्ष तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं। वे हैं पुरुष और प्रकृति। प्रकृति तथा उसके कार्य रूप समस्त व्यक्त पदार्थ स्वभाव से अचेतन हैं। बुद्धि अहंकार, मन एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रिया अव्यक्त का ही परिणाम होने के कारण चेतनारहित हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के अन्तर में जो चेतना की उपलब्धि है वह किस 'तत्त्व' के कारण है? कौन सा ऐसा तत्त्व है जिसके कारण मनुष्य को अपने अस्तित्व का आभास होता है? किस सत्ता की प्रेरणा से उसकी बुद्धि मन तथा इन्द्रिया विषयों की ओर प्रेरित होती हैं? इन सभी शंकाओं का समाधान सांख्य में एक 'चेतन' तत्त्व की कल्पना करके किया गया है जिसे इस शास्त्र में 'पुरुष' अथवा 'ज्ञ' कहते हैं। यह तत्त्व प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। प्रकृति के समान यह भी एक अनादि तत्त्व है जिसके कारण हमें सांख्य में द्वैत की उपलब्धि होती है? इस द्वैतवादी विचारधारा में पुरुष-सिद्धान्त का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि सांख्य दर्शन की मान्यता है कि पुरुष के कैवल्यार्थ ही प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है।

सांख्य में आत्मा के ही अर्थ में पुरुष शब्द व्यवहृत है। इसकी व्युत्पत्ति 'पुरुषोत्ते' से दी गयी है। समस्त इन्द्रियधारी प्राणियों में आत्मनिर्णय का एक तत्त्व विद्यमान है जिसे सामान्यतः 'आत्मा' नाम दिया गया है। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में यद्यपि व्यक्ति एक अर्थ में एक विशिष्ट तथा परिमित शक्ति वाला प्राणी है, जो मरणशीलता-सम्बन्धी समस्त आकस्मिक घटनाओं तथा परिवर्तनों के अधीन है, तो भी उसके अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो उसे इन सबसे ऊपर उठाता है। वह न तो मन है, न जीवन है, न शरीर है, बल्कि मौन, शान्त सूचना देने वाली (साक्षीरूप) एवं

सभाले रखने वाली आत्मा है, जो इन सबको धारण करती है। जब संसार के तथ्यों पर हम ज्ञानवाद-सम्बन्धी दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो हमें एक ओर विषयी (प्रमाता) और दूसरी ओर विषय (प्रमेय) का वर्गीकरण मिलता है। किसी भी प्रमाता तथा किसी भी प्रमेय के मध्य जो सम्बन्ध है। वह बोधविषयक अथवा, विस्तृत रूप में अनुभव विषयक है। ज्ञान प्राप्त करने वाले को साख्य पुरुष मानता है और ज्ञात विषय को प्रकृति।<sup>1</sup>

सांख्यशास्त्र में जिसे 'आत्मा' कहा गया है वही द्रष्टा ज्ञाता और उपभोग करने वाला है। सांख्य दर्शन में पुरुष का स्वरूप प्रकृति के सर्वथा विपरीत (विपर्यासात्) माना गया है। चूंकि यह प्रकृति के सर्वथा विपरीत (विपर्यासात्) माना गया है। चूंकि यह प्रकृति को त्रिगुणात्मिका, अविवेकी विषय, ज्ञेय अविविक्त सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मी या परिणामी मानता है। अतः प्रकृति का विरुद्धधर्मी होने के कारण पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, ज्ञाता, विविक्त, विशेष, चेतन और अपरिणामी है।<sup>2</sup> सांख्य का पुरुष चैतन्य स्वरूप है। इस कारण वह शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि अहंकार से भिन्न है। चैतन्य उसका स्वभाव है। वह साक्षी है निष्क्रिय या उदासीन है कूटस्थ-नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, कूटस्थ नित्य होने के कारण 'कारण-नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, कूटस्थ नित्य होने के कारण 'कारण-कार्य श्रृंखला' से परे है।<sup>3</sup> वह न तो किसी का कारण है और न किसी का कार्य है। वह नित्यमुक्त, उदासीन एवं अकर्ता है। वह अज

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन -2, पृ० 242

<sup>2</sup> त्रिगुणमविवेकि विषय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मी।  
व्यक्त तथा प्रधान तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।  
—सांख्यकारिका 11

<sup>3</sup> न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष।  
—सांख्यकारिका-3 (कारिकाश)

नित्य सर्वव्यापी अनाश्रित, अलिंग निरवयव एवं स्वतंत्र है। पुरुष प्रकृति के विकारों का मात्र द्रष्टा है, कर्ता नहीं है और इस कारण वह मात्र साक्षी है। सांख्य दर्शन की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह पुरुष को अकर्ता मानते हुए भी भोक्ता मानता है। उसके अनुसार जिस प्रकार राजा स्वयं अन्न का उत्पादन करता है उसी प्रकार पुरुष अकर्ता होकर भी प्रकृति एवं उसके विकारों का भोक्ता है।

4.1 : भारतीय दर्शन में आत्मतत्त्व पर विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि सांख्य सम्मत पुरुष अन्य भारतीय विचारधाराओं के आत्मतत्त्व से भिन्न है। अतः सांख्यदर्शन के पुरुष का स्वरूप समझने के लिए अन्यान्य भारतीय विचार धाराओं से उसका भेद समझना आवश्यक है। भारतीय दर्शन का भौतिकवादी सम्प्रदाय (चार्वाक दर्शन) स्थूल शरीर को ही आत्मा विवेचित करता है। उसके अनुसार (चैतन्य विशिष्टः देहएव आत्मा)। कतिपय सम्प्रदायों में इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को ही आत्मा कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन एवं मीमांसादर्शन का प्रभाकर सम्प्रदाय आत्मा को अचेतन द्रव्य मानता है और चेतना को उसका आकस्मिक गुण। भट्ट सम्प्रदाय में आत्मा को एक चेतन द्रव्य माना जाता है जो अंशतः अज्ञान के आवरण से ढका रहता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है एवं चेतना उसका नित्य धर्म (गुण)। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एवं चेतना में 'द्रव्य गुण सम्बन्ध' है। बौद्ध दर्शन क्षणिक चेतना के प्रवाह को आत्मा कहता है। अद्वैतवेदान्ती शंकर आत्मा को सत् चित् और आनन्दस्वरूप कहते हैं। किन्तु सांख्यकारिका के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि सांख्य का पुरुष आत्मा सम्बन्धी उपरोक्त सभी सिद्धान्तों से भिन्न है। पुरुष चैतन्य स्वरूप है, अतः वह न्याय वैशेषिक एवं प्रभाकर मीमांसा के अचेतन आत्मतत्त्व (जीव) से

भिन्न है, क्योंकि यह एक नित्य एवं अपरिवर्तनशील तत्त्व है। सांख्य पुरुष को सत् चित् स्वरूप तो मानता है, किन्तु आनन्दस्वरूप नहीं मानता, क्योंकि आनन्द प्रकृति के सत्त्व गुण से उत्पन्न होता है। अतः वह पुरुष का स्वरूप नहीं हो सकता। इस प्रकार पुरुष अद्वैत वेदान्त के आत्म तत्त्व से भी भिन्न है।

4.2 : सांख्य के अनुसार आत्मा शुद्ध-चैतन्य स्वरूप है। यह स्वयंप्रकाश एवं स्वयं सिद्ध है। प्रकृति तथा उससे उत्पन्न पदार्थ स्वतः अभिव्यक्त नहीं होते, बल्कि वे व्यक्त होने के लिए पुरुष पर निर्भर हैं। प्रधान तत्त्व अपने लिंगभूत महदादि कार्यों के द्वारा जाना जाता है। अतः इनका परार्थ होना स्वतः सिद्ध है। और यह 'पर' पुरुष ही है। यह पुरुष ही सुख दुःख का भोक्ता है। पुरुष के लिए ही प्रकृति का यह सारा 'सृष्टिनाट्य' है। प्रकृति एवं उसके विकार अधिष्ठान स्वरूप हैं अतः इसके अधिष्ठाता या भोक्ता के रूप में पुरुष को मानना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। ईश्वरकृष्ण ने पुरुष के इसी भोक्तृत्व और अधिष्ठातृत्व को निम्नलिखित कारिका में स्पष्ट किया है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ —सांख्यकारिका 17

### 1. संघातपरार्थत्वात्

पुरुष की सत्ता की सिद्धि हेतु सर्वप्रथम हेतु यहाँ 'संघातपरार्थत्वात्' दिया गया है। प्रकृति से उत्पन्न सभी महदादि तत्त्व संघात (सावयव) हैं। सांख्य दर्शन में सम्पूर्ण भौतिक जगत् के अतिरिक्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार तथा पंचमहाभूतों से निर्मित स्थूल शरीर को भी संघात पदार्थ ही माना जाता है। ये सभी पदार्थ परार्थ हैं, दूसरों का स्वार्थ सिद्ध करते हैं, जड़ या अचेतन तत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि अचेतन

तत्त्व का कोई साध्य नहीं होता है। अतः ये संघात् एव सावयव पदार्थ किसी विजातीय चेतन तत्त्व का साध्य सिद्ध करते हैं। साख्य के अनुसार यह चेतन तत्त्व पुरुष है।

यद्यपि यह देखने को मिलता है कि एक सघात्मक पदार्थ दूसरे सघात्मक पदार्थ के काम में आता है जिस प्रकार सघात्मक घर उसमें रहने वालों के सघात्मक शरीरों के काम में आता है, इसी प्रकार यतः सभी सघात्मक पदार्थ दूसरे सघात्मक पदार्थों के काम में आते हैं अतः यह कहा जा सकता है कि संघातों की परार्थता के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि संघात रूप पदार्थ अपने से भिन्न किसी पुरुष तत्त्व के काम में आते हैं, और इस प्रकार उनसे भिन्न कोई 'पुरुष' तत्त्व है, किन्तु फिर भी यतः एक संघात दूसरे संघात के काम में आता है, और यह दूसरा संघात तीसरे संघात के काम में आता है, इस प्रकार चलते-चलते संघातों की परार्थता के कारण अन्त में कहीं भी जाकर विवश हो यह मानना ही पड़ेगा कि अमुक अंतिम संघात अपने से भिन्न किसी ऐसे संघात रूप या असंहत तत्त्व के लिए है, जो कि असंघात रूप होने के कारण परार्थ न होकर स्वार्थ अर्थात् अपने लिए है, अतः संघातों से भिन्न असंघात रूप या असंहत तत्त्व की सत्ता सिद्ध होती है। और यह असंघात रूप तत्त्व ही पुरुष तत्त्व है।

## 2. त्रिगुणादिविपर्यात्

यह युक्ति प्रथम 'संघात परार्थत्वात्' को ही स्पष्ट करती है। यह युक्ति इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि इन संघात पदार्थों से जिस 'परतत्त्व का साध्य सिद्ध होता है वह स्वयं संघात पदार्थ नहीं हो सकता। विश्व की वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं, क्योंकि उनमें सुख, दुःख और उदासीनता उत्पन्न करने की शक्ति है। इसीलिए कोई

ऐसे तत्त्व का रहना अनिवार्य है जो अत्रिगुण हो। तार्किक दृष्टिकोण से त्रिगुण का विचार इस ओर सकेत करता है, पुरुष है। पुरुष विभिन्न गुणों का साक्षी है, परन्तु वह स्वयं इनसे परे है।

### 3 अधिष्ठानात्

सांख्यदर्शन के अनुसार विश्व के सभी भौतिक पदार्थ अचेतन हैं। अचेतन पदार्थों से कोई क्रिया तभी सम्पन्न हो सकती है जब कोई चेतन तत्त्व उनका नियमन एवं नियंत्रण करे। जैसे, सारथि (चेतनतत्त्व) से अधिष्ठित होने पर ही रथ चलता है वैसे जड प्रकृति एवं उसके विकार चेतन तत्त्व से नियमित एवं नियन्त्रित होने पर ही सृष्टि-रचना कर सकते हैं अथवा शरीर चेतन तत्त्व से अधिष्ठित होने पर ही कोई क्रिया कर सकती है। इस प्रकार प्रकृति एवं उसके विकारों के अधिष्ठाता की दृष्टि से पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।

### 4. भोक्तृभावात्

प्रकृति से संसार की समस्त वस्तुओं का विकास होता है। समस्त वस्तुएँ भोग्य हैं। अतः इन वस्तुओं का भोक्ता होना परमावश्यक है। अब प्रश्न है इन वस्तुओं का भोक्ता कौन है? इन वस्तुओं का भोक्ता प्रकृति नहीं हो सकती, क्योंकि वह अचेतन है और भोग्य है। एक ही वस्तु भोग्य और भोक्ता दोनों नहीं हो सकती। बुद्धि भी इन वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकती, क्योंकि वह भी अचेतन है। इससे यह सिद्ध होता है कि संसार की विभिन्न वस्तुओं का भोक्ता चेतन सत्ता ही है। संसार का प्रत्येक पदार्थ सुख-दुख और उदासीनता उत्पन्न करता है। परन्तु सुख-दुःख और उदासीनता का अर्थ तब ही निकलता है जब इनका अनुभव पुरुष ही करता है अतः

पुरुष का अस्तित्व प्रायः सिद्ध है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार जब तक पुरुष जीव रूप से रहता है तब तक पुरुष में भोक्तृत्व रूप रहता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र भी इसे स्वीकार करते हैं।<sup>1</sup> यद्यपि दोनों आचार्यों में भोग का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। मिश्र मानते हैं कि बुद्धिस्थ पुरुष प्रतिबिम्ब में सारा भोग होता है, किन्तु आचार्य भिक्षु के मत में इस प्रकार का भोग प्रतिबिम्बित होने से तुच्छ होगा। अतः पुरुषस्थ-बुद्धि प्रतिबिम्ब है। भोग चाहे प्रतिबिम्ब रूप ही क्यों न हो, पुरुष का भोगादित्व तो निश्चित रहता है।

भोग को क्रिया मान लेने के ही कारण अनिरुद्ध पुरुष में भोगादित्व नहीं मानते हैं लेकिन उनका यह मत उचित नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति को भोक्तृ कहने वाले अनिरुद्ध की कीर्त्तना करते हुए आचार्य भिक्षु ने द्रष्टव्य स्वरूप भोग का व्यवपदेश पुरुष में माना है, जिसका समर्थन उपनिषद् आदि श्रुतियों से भी होता है। आचार्य मठर द्वारा पुरुष के मोक्षकालिक स्वरूप में आनन्द की मान्यता का भी आचार्य भिक्षु विरोध करते हैं पुरुष में इच्छा आदि गुण कभी नहीं माने जा सकते।<sup>2</sup>

## 5 कैवल्यार्थ प्रवृत्ते:

कैवल्यार्थ प्रवृत्ति से आशय है कि पुरुष मन, बुद्धि अहकार, इन्द्रिय एवं देह से भिन्न है। सांख्य दर्शन के अनुसार ससार में कैवल्य के लिए प्रवृत्ति दिखाई देती है। कैवल्य मोक्ष है जिसमें त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। ससार में कुछ व्यक्ति कैवल्य हेतु प्रयासरत दिखाई देते हैं। वे तपश्चर्या, साधना आदि में रत रहते

<sup>1</sup> सांख्य तत्त्वकौमुदी- पृ० 118

<sup>2</sup> डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव आचार्य भिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान पृ० 149-150



हैं। इस पद्धति में वे अपने शरीर को भी कष्ट देते हैं। वे इन्द्रियों मन, बुद्धि आदि को भी नियन्त्रित करने का दुष्कर कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि वह तत्त्व, जिसके कैवल्य हेतु वे प्रयासरत देखे जाते हैं, शरीर इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि से भिन्न है। सांख्य इस चेतन आत्म तत्त्व को पुरुष कहता है। इस प्रकार कैवल्य प्रवृत्ति से पुरुष की सत्ता प्रमाणित होती है।

प्र०० हिरियन्ना भी पुरुष को साक्षी, नित्यमुक्त, तटस्थ और द्रष्टा स्वीकार करते हैं।<sup>1</sup> श्रीमद्भगवद्गीता और कठोपनिषद् में आत्मा का जो वर्णन मिलता है वह आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करता है। कठोपनिषद् में आत्मा का 'न जायते म्रियते वा विपश्चिनायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्'<sup>2</sup> इस रूप में जो वर्णन है वह गीता में 'कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूयः'<sup>3</sup> इस शब्द परिवर्तन के रूप में उपलब्ध होता है। गीता में आत्मा को कवि, पुराण, अनुशासनकर्ता, अचिन्त्यरूप, आदित्यवर्ण, तमसः परस्तात् आदि कहा गया है। गीता में ही जीवात्मा को सृष्टि को निमित्त मात्र स्वीकार किया गया है।<sup>4</sup> यह प्रकृति के लिए हुए कर्मों को अपना किया हुआ समझ लेता है। इसी कारण संसारचक्र में फंसेता है। परन्तु प्रकृति से अपनी भिन्नता को जान लेने पर वह मुक्त हो जाता है। महाभारत<sup>5</sup> के शान्तिपर्व में ऐसे पुरुषों को 'ज्ञाता' 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' कहा गया है। गीता के वचन 'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्' में बुद्धिमान् शब्द का भी यही अर्थ है। आध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से मोक्ष का सच्चा स्वरूप भी यही है।<sup>6</sup>

<sup>1</sup> प्र०० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूप रेखा, पृ० 278.

<sup>2</sup> कठोपनिषद्, 2/18, 19

<sup>3</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 2/20

<sup>4</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 11/33

<sup>5</sup> महाभारत शान्तिपर्व, 194/58 , 248/11

<sup>6</sup> वेदान्तसूत्र, 1/1/4.

4.3 : परिनिष्ठित सांख्य दर्शन में पुरुष बहुत्व स्वीकार किया गया है। तत्त्वरूप में वे सब एक ही हैं परन्तु उनकी संख्या अनेक है। उनका तत्त्व है चैतन्य। यह सभी आत्माओं में एक सा ही है। सांख्य अद्वैत वेदान्त की इस मान्यता को अस्वीकार करता है कि एक ही आत्मा सभी जीवों में व्याप्त है। सांख्यदर्शन का यह विचार जैन, मीमांसा एवं रामानुज के विशिष्टाद्वैत से मेल खाता है, क्योंकि इन विचारधाराओं में भी अनेक जीवों के अस्तित्व में विश्वास किया जाता है। ईश्वर कृष्ण ने पुरुष बहुत्व के प्रतिपादन के लिए निम्नलिखित कारिका प्रस्तुत की है—

‘जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।।’

अर्थात् जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था, एक साथ प्रवृत्ति के अभाव तथा गुणों के भेद के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है। अब क्रमशः कारिका में आये हुए प्रत्येक अंश की व्याख्या की जाएगी—

1. सांख्य दर्शन के अनुसार संसार में प्रत्येक पुरुष का जन्म, मरण और करण (इन्द्रियां) प्रतिनियत हैं। विभिन्न पुरुषों के जन्म मृत्यु में अन्तर प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर है। विभिन्न पुरुषों की इन्द्रियों में भेद प्रतीत होता है। एक पुरुष के जन्म लेने से सभी पुरुषों का जन्म नहीं हो जाता है। तथा एक पुरुष की मृत्यु से सभी पुरुषों की मृत्यु नहीं होती। इसी प्रकार एक पुरुष के अन्धा या बहरा हो जाने सभी पुरुषों के अन्धा या बहरा होने का प्रसंग नहीं उपस्थित होता। यदि पुरुष एक होता तो एक पुरुष के जन्म से सभी पुरुषों की मृत्यु हो जाती। इसी प्रकार एक पुरुष की इन्द्रियों में सभी पुरुषों का जन्म हो जाता, एक पुरुष की मृत्यु से सभी

पुरुषों की मृत्यु हो जाती। इसी प्रकार एक पुरुष की इन्द्रियो में सभी पुरुषों की इन्द्रियो का समावेश हो जाता। लेकिन ससार में ऐसा नहीं दिखाई देता है। अतः यह सिद्ध है कि पुरुष एक नहीं है वह अनेक है।

2. ससार में युगपत् प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती है। विश्व में प्रत्येक व्यक्ति के क्रिया-कलापों में विभिन्नता दिखाई देती है। हम देखते हैं कि जब एक व्यक्ति सोता है तो दूसरा व्यक्ति कोई कार्य कर रहा होता है। एक व्यक्ति हसता है तो अन्य रोता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न कर्म-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। यदि सभी जीवों में एक ही पुरुष होता तो एक व्यक्ति द्वारा कोई कार्य करने पर सभी लोग उसी कर्म में रत दिखाई पड़ते। किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष एक नहीं बल्कि अनेक है।
3. संसार के सभी जीवों में विभिन्न स्तर दिखाई देते हैं और उनमें गुण की दृष्टि से भेद प्रतीत होता है। देवताओं का स्तर सभी जीवों में सर्वोच्च है। इसके पश्चात् मानव-जाति का स्तर है। अन्त में पशु-पक्षियों तथा अन्य जीवों का स्तर है। पुनः यद्यपि सभी जीवों में सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुण पाये जाते हैं, तथापि प्रत्येक जीव में तीनों गुणों में विभिन्नता पायी जाती है। देवताओं में सत्त्व गुण की अधिकता होती है, मनुष्यों में रजोगुण की तथा अन्य जीवों में तमोगुण की बहुलता पायी जाती है। यतः मानव-योनि के विभिन्न जीवों में भी तीनों गुणों का भेद दृष्टिगोचर होता है। किसी में सत्त्व गुण की प्रधानता है तो अन्यो में रजस् या तमस् की। यदि सभी जीवों में एक ही पुरुष व्याप्त होता तो उनकी एक ही कोटि

होती और उनमें गुणों की दृष्टि से कोई भेद न होता। किन्तु ऐसा नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि पुरुष एक नहीं है वरन् वह अनेक है।

वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में इसकी विशद व्याख्या की है। उनके अनुसार अभिनव शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार बुद्धि और वेदना के संघात के साथ पुरुष का सम्बन्ध ही जन्म है तथा पूर्व गृहीत शरीर आदि का परित्याग ही मरण है, न कि पुरुष का विनाश क्योंकि वह तो कूटस्थ नित्य है।

ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं में पुरुष के स्वरूप की जो व्याख्या की गई है वह कई स्थलों पर भ्रामक है जिसके कारण इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान सांख्य में पुरुष-बहुत्व को मानते हैं तथा कुछ अन्य विद्वान सांख्य सम्मत पुरुष को 'एक' मानकर कारिकाओं में प्रतिपादित अनेकात्मवाद की युक्तियों को बद्ध पुरुष-विषयक मानते हैं। जहाँ तक ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का सम्बन्ध है जो कि सांख्यशास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है इसकी 'जनन मरण' इत्यादि कारिका में स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है कि 'पुरुष बहुत्वं सिद्धम्' तो फिर किस आधार पर यह माना जाए कि सांख्य पुरुष बहुत्व या अनेकत्व को नहीं मानता।

प्रारंभ में सांख्य ने आत्मा को शुद्ध चैतन्य स्वरूप, ज्ञान का आधार, निस्त्रैगुण्य, साक्षी अकर्ता और निरपेक्ष मानकर सच्ची आध्यात्मिक दृष्टि का परिचय दिया है। परन्तु पुरुष के अस्तित्व और अनेकत्व के विषय में सांख्य ने जो युक्तियाँ दी हैं, वे आध्यात्मिक आत्मा पर नहीं, बल्कि अहंकाराविष्ट जीव पर लागू होती हैं। आध्यात्मिक पुरुष भोक्ता और अनेक कैसे हो सकता है? सांख्य पुरुष को भोक्ता और प्रकृति को भोग्य स्वीकार करता है लेकिन अपने शुद्ध रूप में जो पुरुष उदासीन है वह भोक्ता

कैसे हो सकता है, जबकि किसी भी स्तर पर साख्य सासारिक पुरुष को सर्वनिरपेक्ष पुरुष से भिन्न उसका आभास या विवर्त स्वीकार नहीं करता। यथार्थवादी होने के कारण साख्य पुरुष बहुत्व को वास्तविक स्वीकार करता है तो फिर क्या अनेक पुरुष हैं? डॉ० चन्द्रधर शर्मा का मत है कि अनेक पुरुषों को वास्तविक मानने पर सर्वोच्च सत्ताओं की कितनी बड़ी भीड़ एकत्रित हो जाएगी। इनके अनुसार जो बहुत्व है वह सासारिक स्तर पर ही है क्योंकि यदि इस नाना रूपात्मक सृष्टि को अन्ततः मूल कारण प्रकृति में पर्यवासित माना जा सकता है तो बहुत सारे सासारिक जीवों का भी पर्यवसान एक सर्वोच्च पुरुष में क्यों नहीं माना जा सकता।<sup>1</sup> प्रो० हिरियन्ना भी यह स्वीकार करते हैं कि साख्य कारिका में जो पुरुष बहुत्व का वर्णन है वह केवल सासारिक जीवों का अनेकत्व ही सिद्ध करता है। स्वरूपतः पुरुषों में भिन्नता पाना कठिन है।<sup>2</sup>

डॉ० राधाकृष्णन् कारिकाकार के मत से सहमत है और यह स्वीकार करते हैं कि आत्माएँ अनेक हैं क्योंकि मनुष्यों में सबको शारीरिक, नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्राप्त हैं। दृष्टिकोण में भेद प्रकृति के व्यापारों के कारण नहीं हो सकते और इसलिए यह युक्ति दी जाती है कि चैतन्यरूप द्रष्टा भिन्न-भिन्न है। इनकी भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ तथा कर्म हैं और पृथक्-पृथक् जन्म तथा मरण को प्राप्त करते हैं।<sup>3</sup> दासगुप्त भी साख्य में अनेक आत्माएँ मानकर पुरुष बहुत्व को स्वीकार करते हैं।<sup>4</sup>

वेदान्तियों को साख्यवादियों की यह मान्यता तो स्वीकार है कि आत्मा निर्गुण ,

<sup>1</sup> C D Sharma, A critical survey of Indian philosophy, -p 156-157

<sup>2</sup> प्रो० हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० 279

<sup>3</sup> डॉ० राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन भाग 2 पृ० 244

<sup>4</sup> Dr S N Dass Gupta, History of Indian Philosophy, Vol I, P 265-266

उदासीन और अकर्ता है, लेकिन वे साख्यशास्त्र की 'पुरुष बहुत्व' सम्बन्धी इस कल्पना को स्वीकार नहीं करते कि प्रकृति को देखने वाले (साक्षी) स्वतंत्र पुरुष मूल से असंख्य है।<sup>1</sup> वेदान्तियों का मत है कि यद्यपि उपाधिभेद के कारण सब जीव भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं, परन्तु वस्तुतः सब एक ही हैं। विज्ञानभिक्षु ने साख्य में पुरुष-बहुत्व को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार सभी मनुष्य न एक साथ जन्म लेते हैं, और न मरते हैं और पुण्यात्मा अच्छे स्थानों में जन्म लेती है और पापी बुरे स्थानों में।<sup>2</sup> अतः जन्मादि की व्यवस्था के आधार पर पुरुष-बहुत्व ही मानना उचित है। उपाधि-भेद के आधार पर पुरुष-बहुत्व मानने पर तो जैसे घट के टूट जाने पर घटाकाश नष्ट हो जाता है, वैसे ही उपाधि नष्ट हो जाने पर उपाधिमान भी नष्ट हो जाना चाहिए परन्तु उपाधि नष्ट होने से जीव का नाश नहीं होता। इस सूक्ष्म बात को न समझकर शंकरमतानुयायी वेदान्तियों ने एक आत्मा में ही बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था मानी है।<sup>3</sup> विज्ञानभिक्षु ने उन्हें अतीव भ्रान्त कहा है।<sup>4</sup>

विज्ञानभिक्षु का मत है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् आत्मा एक है ऐसा कहने वाली श्रुतियों और स्मृतियों का विरोध पुरुष-बहुत्व मानने से नहीं होता क्योंकि आत्मैक्य का प्रयोग जाति अर्थ में किया गया है। ऐक्य प्रतिपादक श्रुतिवचनों का तात्पर्य जाति या सामान्य में है, अखण्ड एक रूप कदापि नहीं।<sup>5</sup> पुरुषों के चिन्मय रूप

<sup>1</sup> शांकरभाष्य, वेदान्तसूत्र, 2/1/1 पर

<sup>2</sup> पुण्यवान् स्वर्गं जायते, पापीनरके, अज्ञो बध्येत ज्ञानी मुच्यते इत्यादि श्रुतिस्मृति-व्यवस्था विभागस्यान्यथानुपपत्त्या पुरुष बहुत्व इत्यर्थः। —साख्य प्रवचन भाष्य, पृष्ठ 71

<sup>3</sup> डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान, पृष्ठ 152

<sup>4</sup> तैत्त्वतीवभ्रान्ता। —साख्य प्रवचन भाष्य, पृष्ठ 73

<sup>5</sup> (1) ना द्वैत त्रुटि विरोध जातिपरत्वात्।। —साख्यसूत्र 1/154

(2) आत्मैक्य श्रुतीनां विरोधस्तु नास्ति, तासां जाति परत्वात्। जाति सायान्यमेकरूपत्व तत्रैवाद्वैतश्रुतीनां तात्पर्यात् नत्वं खण्डत्वे। प्रयोजनाभावात्। जातिपरत्वात्— विजातीय द्वैत निषेध परत्वादित्यर्थः।

—साख्य प्रवचन भाष्य, पृष्ठ 74

मे परस्पर वैधर्म्य नहीं है बल्कि समानता है। वस्तुतः पुरुष अनेक या असंख्य है। श्रुतियों ने सामान्य या जाति के आधार पर ही आत्मा को एक या अद्वैत कहा है।

युक्तिदीपिका, तत्त्वकौमुदी, जयमंगला तथा माठरवृत्ति में भी पुरुष-बहुत्व स्वीकार किया गया है किन्तु गौडपादभाष्य में 'आत्मैकत्व' का प्रतिपादन किया गया है।<sup>1</sup> इसके अनुसार दसवीं और ग्यारहवीं कारिकाओं में जिस पुरुष का वर्णन है वह नित्य एक स्वतन्त्र और अनाश्रित है लेकिन अठारहवीं कारिका में जिस प्रकार के पुरुष की स्थापना है वह सदैव ही त्रैगुण्य से ससलिष्ट है अर्थात् वह बद्ध पुरुष है। इस पुरुष के स्वभाव में तथा त्रैगुण्यादि से रहित पुरुष जिसे 'ज्ञ' कहते हैं, वे स्वरूप में स्पष्ट भेद दिखलाई पड़ता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि सांख्य में पुरुष के दो भेद उपलक्षित होते हैं, एक 'ज्ञ' जो गुणातीत, निर्लिप्त और एक है तथा दूसरा बद्ध-पुरुष जो त्रैगुण्य से युक्त कर्म-भोगादि में लिप्त, अनेक एवं शरीर भिन्न है।

पुराणों में प्रतिसचर को त्रिविध माना गया है, प्रतिसचर का अर्थ यहाँ 'लय' से है। त्रिविध लय में एक आत्यन्तिक लय भी है, जो कि ज्ञान द्वारा संभव है चूँकि सबको एक साथ आत्यन्तिक लय के साधन 'ज्ञान' की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः एक साथ सबका आत्यन्तिक लय भी नहीं होगा। इसीलिए पुराणों में पुरुष बहुत्व सम्बन्धी मत को स्वीकृति मिली है।<sup>2</sup> मोक्ष के लिये वैयक्तिक साधना ही उपादेय है। विविध जीव कार्यविपाक, मरण गर्भवास, जन्म विभिन्न जीवकुलो में स्थिति को सम्यक् रूप से जानने पर मोक्षोन्मुखी वृत्ति होती है। माहात्म्यशरीरो का वैविध्य भी पुरुष के

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका 10 11 पर गौडपादभाष्य युक्तिदीपिका तत्त्वकौमुदी एवं माठरवृत्ति।

<sup>2</sup> ब्रह्मपुराण-239, अव्यक्तैकत्वमित्याहु नानात्व पुरुषस्तथा। -शान्तिपर्व 12/315/11

नानात्व का प्रतिपादन करता है। अतः कीथ आदि द्वारा पुरुष बहुत्व को परवर्ती सांख्य की अवधारणा मानना ठीक नहीं है। सांख्यकारिका में<sup>1</sup> 'पुरुष बहुत्वम् सिद्धम्', इस बात का प्रमाण है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण पुरुष नानात्व की सिद्धि में विशेष रूप से प्रयत्नशील है। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने अपनी अंतिम कारिका में षष्ठितन्त्र शास्त्र के मत को प्रतिपादित करने का विचार व्यक्त कर परम्परया सांख्य सिद्धान्त में पुरुष-बहुत्व सम्बन्धी मान्यता को बल प्रदान किया है। पुराण तथा महाभारत में उपलब्ध पुरुष नानात्व के सन्दर्भ में सांख्यकारिका के तर्क को उक्त दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रमाण के रूप में माना जाता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में शरीर एवं सुख-दुःख भोग को ही पुरुष बहुत्व का अनुमापक माना गया है, जैसे कि कारिका में जन्म, मरण, करण सत्त्वादि विपर्यय एवं अयुक्तपत्य प्रवृत्ति को पुरुष बहुत्व का हेतु बताया गया है।

बद्ध पुरुष के प्रति जन्म स्थूल शरीर के जन्मादि के आधार पर पुरुष नानात्व सिद्ध किया जाता है क्योंकि शरीर एक सघात है, उसकी परार्थता पुरुषनुमान में अन्यतम हेतु है। कैवल्य आप्त प्रमाण का प्रमेय है अतः मुक्त पुरुष के हेतुओं का अन्वेषण एवं उनके आधार पर पुरुष नानात्व की सिद्धि असम्भव है।

सांख्य सिद्धान्त में पुरुष के मोक्ष की अवधारणा मिलती है। विवेक निमित्तक मोक्ष ही दर्शन का लक्ष्य है। जिसे परम निःश्रेयस कहा गया है।<sup>2</sup> व्युदासीनतया विवेच्य ससार चक्र के अनन्तर उसके 'हान' स्वरूप मोक्ष का विमर्श सम्प्रति उपक्रान्त है। चतुर्विध पुरुषार्थों में यही नित्य एवं निरतिशय है, अतएव परम पुरुषार्थ है, इसीलिए

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-28

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-63



श्रेयोभिलाषी योगीजन्य अन्य तीन का परित्याग कर इसकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न करते हैं। कर्म एव ससार की भयकरता को देखकर तत्त्वविदमुमुक्षु होते हैं।<sup>1</sup> साख्य मत में प्रधानतः पुरुष को निष्क्रिय उदासीन, नित्य और चेतन माना गया है, जिसमें किसी प्रकार की कामना या इच्छा नहीं है। प्रकृति जिस पुरुष के लिए रगमच पर आती है और लीला करती है, वह पुरुष नित्य और स्वतंत्र नहीं हो सकता वह प्रतिबिम्बित अहभाव जीवात्मा ही होगी। अनेकत्व में सीमितताएँ मिश्रित रहती हैं, जबकि परम नित्य, अनिश्चर और निरुपाधित पुरुष एक ही हो सकता है। इसलिए यदि पुरुष की सत्ता प्रकृति के अभिनय अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया हेतु संसर्ग के लिए आवश्यक है तो उसके लिए एक ही 'नित्य-शुद्ध-मुक्त' पुरुष पर्याप्त है।<sup>2</sup> स्पष्ट है कि साख्य पुरुष की यथार्थ सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य है, क्योंकि इसके बिना जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साख्य बहुसंख्यक पुरुषों में तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं मानता। अपने स्वरूप में सभी शुद्ध चैतन्य रूप हैं तो ऐसी स्थिति में जब पुरुषों में तत्त्व स्वभाव की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है तब केवल संख्या के आधार पर पुरुष बहुत्व स्वीकार करना तथा पारमार्थिक चैतन्य और सांसारिक जीवों में परस्पर भ्रम उत्पन्न करना कहाँ तक समीचीन है? अतः यदि जगत् का सत्य और आत्मा के नित्य मुक्त स्वभाव दोनों को एक साथ मानना हो तो वास्तव में आध्यात्मिक और व्यावहारिक दो प्रकार के पुरुष मानने पड़ेंगे। जैसा कि प्रो०

<sup>1</sup> वस्तुस्थिता न बन्धोऽस्ति तद्भावान्न न मुक्तता—  
विकल्पघटितावुभावपि न किंचन्—साख्यसूत्र

<sup>2</sup> ब्रह्मसूत्र भाष्य—2/3/5 और 53

हिरियन्ना और चन्द्रधर शर्मा मानते हैं। ऐसा मानने पर ही पुरुष-बहुत्व और पुरुष-एकत्व के सम्बन्ध में जो विवाद है उसे कुछ हद तक समाप्त किया जा सकता है।

4.4 : सांख्य में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है या नहीं? इस विषय में भी बहुत विवाद है। सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण तो निरीश्वरवादी हैं। उनकी सांख्यकारिका में ईश्वर का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। विद्वानों ने भी 'सांख्य निरीश्वरवादी है' ऐसा ही कहा है। सांख्य के निरीश्वरवादी होने पर भी सांख्य सम्मत 'पुरुष' को कुछ विद्वानों ने ईश्वर की श्रेणी में रखा है। 'पातंजल योगसूत्र' में पतंजलि ने ईश्वर को स्वीकार किया है। चूँकि पतंजलि अपने को सांख्याचार्य की परंपरा में ही मानते हैं, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः कपिल मुनि ने भी ईश्वर की चर्चा की है अन्यथा स्वयं को सांख्य परंपरा में मानते हुए भी वो सांख्य के सिद्धान्तों से विपरीत सिद्धान्त को क्यों स्वीकार करते। उपनिषदों, पुराणों, महाभारत आदि अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में कपिल सांख्य ही प्राप्त होता है। यदि इन प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित सांख्य को दृष्टि में रखा जाय तो यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि महाभारत<sup>1</sup>, गीता<sup>2</sup>, पुराणों<sup>3</sup> आदि में सेश्वर सांख्य ही वर्णित है। इससे भी स्पष्ट होता है कि कपिल सेश्वरवादी रहे होंगे कपिल के साथ ही पंचशिख भी ईश्वरवादी माने जाते हैं।

<sup>1</sup> महाभारत 12/301/100, 101

<sup>2</sup> श्रीमद्भगवद्गीता 9/10

<sup>3</sup> परस्य ब्राह्मणो रूप पुरुष प्रथम द्विज व्यक्ताव्यक्ते-  
तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्॥ प्रधान पुरुष व्यक्तकालाना  
परम हि यत्। पश्यन्ति सूरय शुद्ध तद्विष्णो परम पदम्॥

—विष्णु पुराण 1/2/15-16

सांख्यकारिका के अतिरिक्त 'तत्त्वसमास' में भी ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं है। सांख्य प्रवचन सूत्र में एक स्थान पर आया है 'ईश्वरासिद्धेः' अर्थात् ईश्वर असिद्ध है और दूसरी जगह आया है कि ऐसा ईश्वर सिद्ध है।<sup>1</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि सांख्य प्रवचनसूत्र ने एक ऐसे ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया है जिसे सामान्यतः लोग ईश्वर नहीं मानते हैं किन्तु सांख्य के जो प्राचीन उल्लेख महाभारत, पुराण आदि में मिलते हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता स्वीकृत अवश्य थी। बहुत सम्भव है कि 'सांख्य प्रवचन सूत्र' में जो ईश्वर की असिद्धि विषयक सूत्र मिलता है, वह प्रक्षिप्त हो। अतः यह कहा जा सकता है कि सांख्य पहले ईश्वरवादी ही रहा होगा, किन्तु कालान्तर में बौद्ध आदि अन्य निरीश्वरवादी दर्शनों के प्रभाव से निरीश्वरवादी हो गया होगा। जब सांख्य और योग दोनों ने मिलकर एक दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप धारण किया तब कम से कम योग ने पुनः ईश्वर की धारणा स्वीकार कर ली। यद्यपि योग का ईश्वर वेदान्त के ईश्वर की भाँति महिमामण्डित नहीं है तथापि एक 'पुरुष विशेष' के रूप में अवश्य है।

जिन सांख्याचार्यों ने ईश्वर को माना है वे उसको उसी अर्थ में लेते हैं जिस अर्थ में योग दर्शन ईश्वर का वर्णन करता है। योगसूत्र में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं—

'क्लेश कर्मविपाकाशर्येपरामृष्टो पुरुष ईश्वरः'<sup>2</sup>

अर्थात् अविद्या, अस्मितादि पंच क्लेशों से कर्मों के पाप, पुण्यादि फलों से एव संस्कारों से असम्पृक्त पुरुष — विशेष ही ईश्वर है। यहाँ ईश्वर को 'पुरुष — विशेष'

<sup>1</sup> सांख्य प्रवचनसूत्र 1/98, 3/57

<sup>2</sup> योगसूत्र 24.

बताकर उसको पुरुष कोटि में ही रखा गया है। अन्य पुरुषों के समान ईश्वर भी चित् स्वरूप एवं ज्योतिर्मय तत्त्व है। लेकिन पुरुष होते हुए भी ईश्वर अन्य पुरुषों से भिन्न है। बद्ध पुरुषों के समान ईश्वर में न तो अविद्या, अस्मिता राग-द्वेष एवं अभिनिवेश नामक क्लेश हैं और न वह धर्मार्थरूपी कर्मों एवं तत्संस्कारों से युक्त होकर उनके फलों का उपभोग करता है। बद्ध पुरुष अविद्या के कारण अज्ञान के अन्धकार में पड़े रहते हैं लेकिन ईश्वर सर्वज्ञ है और निरातिशय ज्ञान से युक्त है।

कुछ विद्वानों का मत है कि विज्ञानभिक्षु सेश्वरसांख्यवादी थे। लेकिन यह कथन उचित नहीं है क्योंकि सांख्य-प्रवचन भाष्य की भूमिका में उन्होंने सांख्य का निरीश्वरवादी होना बताया है।<sup>1</sup> उन्होंने इस निरीश्वरता को सांख्य की दुर्बलता कहा है। विज्ञानभिक्षु स्वयं ईश्वरवादी अवश्य थे। उनका मत है कि सांख्य में ईश्वर की मान्यता के अभाव के कारण 'कारण-ब्रह्म' के रूप में निर्गुण पुरुष-सामान्य ही स्वीकृत किया जाता है।<sup>2</sup> अतः सांख्यमत में स्वीकृत 'चित्सामान्य' ही योग और वेदान्त के ईश्वर का काम देता है। इसीलिए सांख्य की निरीश्वरता को स्पष्टतः घोषित करते हुए भी आचार्य विज्ञानभिक्षु ने नामान्तर में एक ईश्वर (चित्सामान्य) सांख्य में भी आविष्कृत कर ही दिया है।<sup>3</sup> अतः सांख्य को कहने भर के लिए ही उन्होंने निरीश्वर माना है परन्तु वस्तुतः उसे सेश्वरता की संभावना से युक्त कर दिया है। विज्ञानभिक्षु कपिल सांख्य को सदैव निरीश्वरवादी ही मानते हैं। यदि हम ईश्वर-विषयक इन मान्यताओं की आलोचना करें तो यह स्पष्ट होता है कि योग में ईश्वर की धारणा एक प्रकार से

<sup>1</sup> 'य न पश्यन्ति-व्रत इत्यादिकौर्मवाक्ये सांख्यनामीश्वराज्ञानस्येव नारायणादिनाप्रोक्तत्वाच्च।

—सांख्य प्रवचन भाष्य, पृ० 3

<sup>2</sup> सांख्य प्रवचन भाष्य, पृ० 166

<sup>3</sup> पुमानेव जगत्कर्ता जगद्भक्तोऽखिलेश्वर। —सांख्य सार, पृ० 32

साख्य के 'पुरुष अथवा 'ज्ञ' का ही एक विकसित रूप है। साख्यशास्त्र में 'ज्ञ' त्रिगुणातीत निर्विकार और चैतन्य है। योग में उसी को ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा की शक्तियों से सम्पन्न बताकर उसे जीव-कल्याण के लिए उपयोगी माना गया है। साख्यशास्त्र का 'ज्ञ' निर्गुण, चिन्मय, निर्लिप्त अकर्ता तथा उदासीन होकर तटस्थ रूप में विद्यमान रहता है, परन्तु योगशास्त्र का ईश्वर सर्वेश्वर्य-सम्पन्न, सर्वज्ञ, ससार का उद्धार करने वाला और साधकों को अद्वितीय तत्त्व का साक्षात्कार कराने में परम सहायक है।

अतः योग में ईश्वर की स्वीकृति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साख्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में सेश्वरवादी अवश्य रहा होगा। महाभारत, पुराणादि में वर्णित सेश्वरसाख्य को देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इनका उपजीव्य साख्य का सेश्वर रूप ही रहा होगा। कीथ<sup>1</sup>, डॉ० राधाकृष्णन<sup>2</sup>, पुलिन बिहारी चक्रवर्ती<sup>3</sup> आदि विद्वान् इन प्राचीन ग्रन्थों को सेश्वर साख्य से युक्त मानते हैं। पुराण, महाभारत आदि के साक्ष्य के आधार पर यह प्रतीत होता है कि ईश्वर पुरुष से भिन्न और स्वतन्त्र है जैसा कि गीता में कहा गया है, वह पुरुषोत्तम है और प्रकृति तथा पुरुष दोनों से भिन्न है। वह प्रकृति का अध्यक्ष है और पुरुषों का प्रशासक है। उसके द्वारा ही प्रकृति सर्वप्रथम प्रवर्तित होती है और पुरुष उसके द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि साख्य का ईश्वर पुरुष-विशेष है। इतना अवश्य है कि अन्य पुरुषों की अपेक्षा यह उत्कृष्ट है और निरातिशय ज्ञान से युक्त है। अतः

<sup>1</sup> Dr A B Keith, Samkhya system, P 35-36

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग 2 पृ० 219

Pulin Bihari Chakrawarti, Origin and development of sankhyasystem of thought P 13-39, 55-76

साख्य के निरीश्वरवादी और सेश्वरवादी होने के विषय में मतैक्य न होने के कारण कोई मत प्रामाणिक रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक साख्य में ईश्वर किसी न किसी रूप में अवश्य माना गया होगा, किन्तु परवर्ती साख्य में पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त किसी ईश्वर की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है।

45 जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है कि प्रकृति का स्वरूप अचेतन है। सृष्टि की अवस्था आने के लिए प्रकृति में विसदृशपरिणामरूप क्रिया होती है, जिससे प्रकृति को व्यक्त रूप प्राप्त होता है। अतः प्रकृति के समान उसका यह व्यक्त रूप भी अचेतन है। व्यक्त रूप को साख्यकारिका में लिङ्ग कहा गया है।<sup>1</sup> प्रकृति की महत्तत्त्व आदि तेईस विकृतियों व्यक्त के अन्तर्गत आती हैं और इस प्रकार सामान्यतः ये सभी महत्तत्त्व आदि तेईस तत्त्व 'लिङ्ग' हैं, किन्तु इन तेईस तत्त्वों के अन्तर्गत आने वाले महाभूतो से पुरुष का साक्षात् सयोग या सम्पर्क प्रतीत नहीं होता। कारिका चालीस में कारिकाकार ने 'लिङ्ग' शब्द को सूक्ष्मशरीर के अभिधान के रूप में प्रयुक्त किया है। इस शरीर को 'गृहदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' के रूप में महत्तत्त्व या बुद्धि से लेकर सूक्ष्म अर्थात् तन्मात्रा पर्यन्त तत्त्वों से सघटित माना है। इस शरीर से पुरुष का साक्षात् सयोग भी रहता है।<sup>2</sup> इस सूक्ष्म शरीर में प्रमुख तत्त्व महत्तत्त्व या बुद्धि है और बुद्धि से ही पुरुष का साक्षात् या अव्यवहित रूप से सयोग होता है। प्रकृति से विकसित समस्त पदार्थों में बुद्धि सबसे अधिक महत्त्व की है। इन्द्रियाँ अपने ज्ञेय विषयों को बुद्धि के आगे प्रस्तुत करती हैं जो

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण साख्य कारिका-10

<sup>2</sup> तस्मात्तस्योदचेतन चेतनावदिव लिङ्गम्।

उन्हे पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है। यह बुद्धि ही है जो प्रकृति तथा पुरुष के भेद को बताती है और पुरुष के लिए समस्त अनुभव योग्य सामग्री का उपभोग सम्पन्न करती है।<sup>1</sup> बुद्धि उस पुरुष के प्रतिबिम्ब से, जो उसके निकट है वस्तुतः उसके रूप की बन जाती है और सब पदार्थों के अनुभव को सिद्ध करती है। अपनी सात्त्विक अवस्था में प्रकृति के पारदर्शी होने के कारण उसके अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुष प्रकृति के अहभाव तथा कर्तृत्व (अभिमान) को भूल से अपना समझ लेता है। यह भ्रातिपूर्ण भाव आत्मा के अन्दर भी है, किन्तु वह प्रकृति के अन्दर प्रतिबिम्बित होने के कारण ही है। वह वस्तुतः आत्मा का निजी भाव नहीं है, जिस प्रकार न हिलता हुआ भी चन्द्रमा जल के अन्दर प्रतिबिम्बित होने के कारण जल की गति के साथ-साथ हिलता है।<sup>2</sup>

साख्यशास्त्रियों के बीच विषयो के ज्ञान और भोग के स्वरूप को लेकर मत वैभिन्न है। आचार्य आसुरि<sup>3</sup> और आचार्य विन्ध्यवासी के मतों में भोग के स्वरूप को लेकर अन्तर है। आचार्य आसुरि के मत में पुरुष में प्रतिबिम्बित बुद्धि ही पुरुष का भोग है अर्थात् बुद्धि के सब धर्म उसी में होते रहते हैं। पुरुष का भोग इतना ही है कि बुद्धि अपने धर्मों को लेकर उसमें प्रतिबिम्बित हो रही है। जबकि आचार्य विन्ध्यवासी के अनुसार अविकृतात्मा अर्थात् असग रहता हुआ ही पुरुष स-सानिध्य से अचेतन मन अथवा बुद्धि को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन-सदृश कर देता है।

जिस प्रकार लाल कमल अपने सम्पर्क से स्फटिक को लाल कर देता है। इस प्रकार सानिध्य के कारण चेतन पुरुष बुद्धि में प्रतिफलित हो जाता है। यही उसका

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका, 37 / साख्य प्रवचन भाष्य, 1 / 161

<sup>2</sup> साख्य प्रवचन सूत्र, वृत्ति 6 59

—उद्घृत-भारतीय दर्शन, भाग 2 डॉ० राधाकृष्णन—पृ० 252

<sup>3</sup> विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽभ्यसि-षडदर्शन समुच्चय

भोग है। स्पष्ट है कि जहाँ आचार्य आसुरि असग पुरुष में ~~आहार~~ भोग मानते हैं। वहीं विन्ध्यवासी<sup>1</sup> पुरुष में ~~अहार~~ भोग भी सम्भव नहीं मानते। इनके मत में बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना भोगादि के सम्भव न होने से पुरुष में आहार भोग का केवल उपचार होता है। अन्यथा भोग तो मुख्यतः बुद्धि में ही होता है। यहाँ आचार्य आसुरि का मत साख्यकारिका की मान्यता के अनुरूप है।<sup>2</sup>

इसी प्रकार भोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अनिरुद्ध<sup>3</sup> का मत है कि भोग बुद्धि में ही होता है। पुरुष को तो केवल उसका अभिमान होता है। लेकिन आचार्य भिक्षु<sup>4</sup> इसका खण्डन करते हैं। उनका मत है कि बुद्धि में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पडने के कारण बुद्धि ही सब अर्थों का ज्ञाता है, ज्ञान और इच्छा के सामानाधिकरण्य का जीवन में अनेकशः अनुभव होने के कारण ज्ञान की चेतना पुरुष में तथा प्रवृत्ति को बुद्धि में मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। अतः सब पदार्थों का ज्ञान भी बुद्धि को होता है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धि को ज्ञाता मानने पर सूत्र के विचारों से विरोध उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि उसमें चेतन आत्मा के भोग की ही बात मानी गयी है। बुद्धि के भोग की नहीं, दूसरे यदि आचार्य अनिरुद्ध के मत को मान लें तो पुरुष की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं मिलेगा। क्योंकि उनके मत में पुरुष के अनुमान में लिंग बनने वाले भोग को तो बुद्धि में ही मान लिया गया है। इस प्रकार आचार्य भिक्षु भोग को पुरुष में ही स्वीकार करते हैं। भले ही वह स्वतः न होकर बुद्धि द्वारा उसमें सम्पादित होता है।

<sup>1</sup> षड्दर्शन समुच्चय

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका-27

<sup>3</sup> अनिरुद्धवृत्ति साख्यसूत्र-1/97 से 99

<sup>4</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, साख्य प्रवचन भाष्य-1/99



प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार किसी भी प्रमेय अर्थात् पदार्थ की प्रमा अर्थात् उसका ज्ञान मुख्यतः बुद्धि को ही होता है और पुरुष को तो उसका केवल अभिज्ञान होता है। जबकि आचार्य भिक्षु के<sup>1</sup> मत में बाह्य ज्ञानेन्द्रियों एवं मन और अहंकार नामक अन्तःकरणों के द्वारा सम्पादित एवं परम्परया बुद्धि को समर्पित वह ज्ञान बुद्धि के द्वारा पुरुष को समर्पित किये जाने, उस तक आहार्य होने के कारण पुरुष गति ही होता है। चूँकि आचार्य भिक्षु विषय की प्रमा को आहार्य रूप से पुरुषनिष्ठ होना मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में इसे सम्पादित करने वाले बुद्धि वृत्ति (बुद्धि-व्यापार) ही एकमात्र प्रमाण हैं। परन्तु प्रमाण एवं प्रमा के एक विध्य के विषय में वाचस्पति मिश्र<sup>2</sup> के साथ एक मत होने पर भी बुद्धि वृत्ति और पुरुष में परस्पर होने वाले सम्बन्ध के विषय में विज्ञान भिक्षु का उनसे मतभेद है। वाचस्पति मिश्र अन्तःकरण या बुद्धि की वृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानते हैं। अनिरुद्ध<sup>3</sup> पुरुष को ही बुद्धि या अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित मानते हैं। लेकिन विज्ञानभिक्षु का मत है कि अर्थाकार रूप परिणति बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बित<sup>देना</sup> उतना ही जरूरी है, जितना पुरुष का तादृश्य बुद्धि में। इस प्रकार यहाँ प्रतिबिम्बित उभयपक्षी घटना है, एकपक्षी नहीं। विज्ञानभिक्षु की यह पारस्परिक प्रतिबिम्बन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार का संयोग है। जिससे चित् पुरुष बुद्धि या अन्तःकरण में बिना संशक्त हुए प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार लोहे का उज्ज्वलन होता है, अग्नि का प्रकाश आदि उसमें संक्रान्त नहीं होता, उसी प्रकार पुरुष का भी बुद्धि के साथ संयोग विशेष है।

<sup>1</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका-5 पर।

<sup>3</sup> अनिरुद्धवृत्ति, 1/98

4.6 : प्रकृति पुरुष सम्बन्ध का यहाँ संक्षिप्त रूप से वर्णन किया जा रहा है, विस्तृत विवेचन षष्ठ अध्याय में द्रष्टव्य है। यद्यपि प्रकृति और पुरुष अनादिकाल से परस्पर संयुक्त हैं, किन्तु यतः सृष्टि के बिना इस अनादि संयोग से इन दोनों का कोई अपेक्षित कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता, अतः ये दोनों सृष्टि के द्वारा अपने अपेक्षित कार्यों को सम्पन्न करने हेतु पुनः ऐसे रूप में संयुक्त होते हैं कि इस संयोग से सृष्टि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप दोनों के अपेक्षित कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। प्रकृति की अपेक्षा यह है कि पुरुष उसका दर्शन या भोग करे, और पुरुष की अपेक्षा यह है कि वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से दुःखनिवृत्ति/कैवल्य को प्राप्त करे। इस प्रकार यतः सृष्टि के बिना प्रकृति पुरुष के द्वारा दृष्ट अर्थात् भुक्त या उपयुक्त नहीं हो पाती, अतः उसे स्वरूप-लाभ प्राप्त नहीं हो पाता। फलतः उसकी पुरुष से यह अपेक्षा है कि वह (पुरुष) उसका दर्शन या भोग करे। पुरुष की प्रकृति से अपेक्षा है कि वह (प्रकृति) उसके लिए ऐसा साधन जुटा दे जिससे वह (पुरुष) कैवल्य को प्राप्त कर सके। प्रलयावस्था में दोनों की अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं हो पाती हैं। प्रकृति की अपेक्षा इसलिए पूर्ण नहीं हो पाती कि साम्यावस्था में तो वह अव्यक्त रूप में रहती है अतः उसका किस प्रकार भोग हो सकेगा, दूसरे इस अवस्था में पुरुष अव्यक्त प्रकृति से संसृष्ट होने के कारण जड़वत रहता है, फलतः उसमें दर्शन या भोग करने की योग्यता नहीं होती। अतः प्रकृति को यह अपेक्षित होता है कि सृष्टि हो। जिससे एक ओर तो उसके विविध रूप व्यक्त हो जायेंगे जो दृश्य या भोग्य बन सकेंगे, और दूसरी तरफ पुरुष को भी उसके (प्रकृति) व्यक्त रूपों में से अन्यतम बुद्धि आदि साधन प्राप्त हो जायेंगे, जिनके द्वारा वह उक्त विविध रूपों का दर्शन या भोग कर सकेगा। इस प्रकार

अपनी-अपनी अपेक्षा की पूर्ति हेतु प्रकृति और पुरुष इन दोनों ही का सृष्टि रूप समान लक्ष्य हो जाता है जो कि दोनों के सृष्ट्युद्देश्यक संयोग से ही सम्पन्न हो सकता है।<sup>1</sup>

वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रकृति पुरुष के संयोग का मुख्य कारण अविद्या ही है जैसा कि 'त्वस्य हेतुरविद्या' इस 'योगसूत्र' से भी स्पष्ट है। कारण के अनादि होने से कार्य अर्थात् उभय संयोग भी अनादि है। यह संयोग तब तक बना रहेगा जब तक पुरुष का योग और मोक्ष रूप पुरुषार्थ सम्पन्न नहीं होता। इस अनादि संयोग के अन्त के लिए पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य ज्ञान अर्थात् विवेक-ख्याति की अपेक्षा होती है। इसलिए जहाँ प्रकृति को अपना रूप दिखाने के लिए पुरुष की अपेक्षा है वही पुरुष को अपने कैवल्य के लिए प्रकृति अपेक्षित है। अतः दोनों में अनादि संयोग होने पर भी कैवल्य और दर्शन के लिए पुनः संयोग होता है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट कहा है— 'अनादित्वाच्च संयोगपरम्परया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते इति युक्तम्।'

वाचस्पति मिश्र के अनुसार संयोग से तात्पर्य परस्पर सामीप्य है। विद्वत्तोषणीकार ने भी 'चेतनस्य सङ्गत्वात्कथनं संयोग इत्यत्राह 'तत्सन्निधानमिति' कहकर संयोग से तात्पर्य प्रकृति-पुरुष का सानिध्य ही माना है। यह संयोग पुरुष और प्रकृति के परस्पर भोक्ता और भोग्य बनने की योग्यता है जो दोनों में उनके क्रमशः चेतन और जड होने के कारण है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र स्पष्ट कहते हैं— 'योग्यता च संयोग भोक्तृत्व योग्यता च पुरुषस्य चैतन्यम्, भोग्यत्वयोग्यता च प्रकृतेजडत्वम्।'<sup>2</sup>

<sup>1</sup> साख्यकारिका 21 पर व्याख्या उद्धृत साख्यकारिका साहित्य भण्डार मेरठ।

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र तत्त्वकौमुदी साख्यकारिका, 65

यहाँ यह शंका उठती है कि प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन परन्तु निष्क्रिय है। ऐसी अवस्था में उनका संयोग कैसे हो सकता है और प्रकृति का कर्तृत्व कैसे प्रारम्भ हो सकता है? इस आशंका का समाधान करने के लिए ईश्वरकृष्ण ने निम्नलिखित कारिका दी है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं यथा प्रधानस्य ।

पङ्गवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।। सांख्यकारिका, 21

अर्थात् जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति मार्ग न देख पाते हुए भी चलने का कार्य करता है तथा पंगु व्यक्ति चलने में असमर्थ होता हुआ भी पथ निर्देशन का कार्य करता है। उसी प्रकार जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का भी संयोग होता है। प्रकृति पुरुष के संसर्ग से चेतनवत् होकर सृष्टि करती है और निष्क्रिय पुरुष प्रकृति के व्यापारों को अपना मानकर भोग करता है। इसी प्रकार यह उपमा भी दी जाती है कि जिस प्रकार चुम्बक सन्निधि से लोहे को चलायमान करता है उसी प्रकार पुरुष की सन्निधि—मात्र से प्रकृति क्रियाशील हो जाती है।

किन्तु अन्धे और लंगड़े के उदाहरण में यह ध्यातव्य है कि दोनों ही चेतन और क्रियाशील प्राणी हैं और उनका संयोग सर्वथा सम्भव है किन्तु पुरुष और प्रकृति एक दूसरे से नितान्त भिन्न सत्ताएँ हैं और उनमें तत्त्व तथा स्वभाव की दृष्टि से कोई सादृश्य नहीं है। ऐसी अवस्था में अत्यन्त भिन्न सत्ताओं का संयोग सम्भव नहीं है। इस दोष को दूर करने के लिए ही सांख्य कहता है कि दोनों का वस्तुतः संयोग नहीं होता बल्कि पुरुष-सन्निधि मात्र गुणों में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। यह पुरुष प्रकृति के सत्त्वगुण में प्रतिबिम्बित होता है जिसके कारण प्रकृति चेतन—सदृश प्रतीत

होती है। प्रकृति-पुरुष की यह सन्निधि ही गुणों को क्षुब्ध करती है, जिससे विभिन्न प्रकार की सृष्टि होती है।

वाचस्पति मिश्र केवल एक प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं उनके अनुसार आलोक पुरुष की सन्निधि से प्रकृति स्वयं आलोकमयी हो उठती है। यही उसमें प्रतिबिम्ब का पड़ना है। इस पुरुष से प्रतिबिम्ब के कारण प्रकृति चेतनवती सी प्रतीत होती है, और उसमें प्रतिबिम्बित होता हुआ पुरुष प्रकृति के सभी धर्मों को अपना समझ कर उनका अभिमान करता है। यह अभिमान ही भोग है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रतिबिम्ब ही भोगता है। ✓

लेकिन विज्ञानभिक्षु इस मत से असहमत हैं। इनके अनुसार सांख्य पुरुष की सत्ता भी भोक्तृत्व के आधार पर ही सिद्ध करता है और प्रतिबिम्ब के द्वारा भोग सम्भव नहीं है। सांख्य में भोग भी वास्तविक होना आवश्यक है। प्रतिबिम्ब से युक्त प्रकृति अन्ततः जड़ ही है और प्रतिबिम्ब भी स्वरूपतः जड़ प्रकृति से अभिन्न है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब से युक्त दर्पण अन्ततः दर्पण ही है, उसी प्रकार पुरुष प्रतिबिम्ब से युक्त प्रकृति भी अन्ततः प्रकृति ही है। इसलिए प्रतिबिम्ब का भोग वस्तुतः प्रकृति का भोग हुआ और प्रकृति जड़ है वह भोक्ता हो नहीं सकती। अतः विज्ञानभिक्षु स्वयं पुरुष का ही भोक्तृत्व स्वीकार करते हैं उसके प्रतिबिम्ब का नहीं। इस भोग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि पुरुष के प्रतिबिम्ब से युक्त चेतनवती-सी प्रकृति अपने समस्त कार्य व्यापार के साथ आलोकरूप पुरुष में पुनः प्रतिबिम्बित होती है। इसमें वे पुराण का उद्धरण देते हुए कहते हैं—

तस्मिंश्च दर्पणस्फारं समस्ताः वस्तुद्रष्टव्यः ।

इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीं च तटद्रुमाः ॥

अर्थात् जिस प्रकार तटस्थ सभी वृक्ष सरोवर में प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार प्रकृति अपने समस्त कार्य व्यापार के साथ दर्पणस्थानीय भास्वर चैतन्य स्वरूप पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रतिबिम्ब-सहित विषयाकाराकारित बुद्धि बिम्बस्वरूप आलोकरूप पुरुष में पुनः प्रतिबिम्बित होती है और यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित पुरुष सिद्धान्त भी तर्कसंगत नहीं है। सांख्य दर्शन में जब पुरुष का स्वरूप विवेचन होता है तथा जब पुरुष बहुत्व का विवेचन होता है तो इनमें स्पष्टतः विरोध परिलक्षित होता है। इसके पुरुष बहुत्व में विद्वानों मतैक्य नहीं है। सांख्य दर्शन की युक्तियाँ केवल बुद्धि सम्पन्न सांसारिक जीवों की अनेकता को सिद्ध करती हैं। इनसे उस पुरुष की अनेकता नहीं स्थापित हो पाती है जिसे चेतन स्वरूप, असंग, निर्गुणातीत, साक्षी द्रष्टा एवं उदासीन माना गया है।

---

## पंचम अध्याय

जगत् की सृष्टि प्रक्रिया, एवं विकास क्रम

5.1 : महत् तत्त्व

क. बुद्धि के परिणाम

5.2 : अहंकार

5.3 : एकादशेन्द्रिय

क. ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय

5.4 : मन

5.5 : बाह्य करण एवं अन्तः करण

5.6 : पंच तन्मात्र

5.7 : पंच महाभूत

5.8 : सूक्ष्म शरीर

5.9 : दिक् और काल

जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न, दर्शन का महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। प्रत्येक दार्शनिक, विश्व की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है। प्रायः कहा जाता है कि जगत् का निर्माण ईश्वर ने शून्य से किसी काल-विशेष में किया है। सांख्य का मत इससे भिन्न है, क्योंकि सांख्य ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करता है। जब ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है, तो ईश्वर को जगत् का स्रष्टा स्वीकार करना व्यर्थ है। सांख्य का मत है कि यह विश्व विकास का फल है, ईश्वर की सृष्टि नहीं है।

सांख्य जगत् के विकास को एक निरन्तर प्रक्रम के रूप देखता है। सृष्टि रचना कोई बिल्कुल अलौकिक घटना नहीं, बल्कि यह तो एक क्रमिक विकास है। इसके लिए किसी बाहरी कारण का सम्मिलित होना आवश्यक नहीं। यह वस्तुतः पुरानी मान्यताओं का बिल्कुल नया आख्यान था जो परम्परा पर एक कुठाराघात माना जा सकता है। यह जगत् अनेक आत्माओं के भोगापवर्गरूप प्रयोजन का परिणाम है जिससे यह नित्य जगत् अव्यक्तावस्था से अभिव्यक्त हो जाया करता है। अनवरत गति से कर्मशील प्रकृति का यह दिशा परिवर्तन है जो प्रवृत्ति के रूप में विकृति की ओर बढ़ती है। जगत् की अभिव्यक्तावस्था का उपादान कारण अव्यक्त (प्रकृति) वस्तुतः अपने कार्यों से घटित ही है। पुरुष तो केवल सानिध्य में आ जाता है, बस इसी से प्रभावित होकर उसकी संतुलित अवस्था बाधित हो जाती है। वह केवल बाहर से प्रभावित करता है स्वयं विकास के लिए उसका वास्तविक फंसाव नहीं होता है। प्रकृति की संतुलन की अवस्था जहाँ बिगड़ी, वह विकृति के रूप में विसदृश परिणाम करने लगती है। इसी प्रकार विश्व को प्रकट करने के अतिरिक्त वह संतुलन की



अवस्था प्राप्त होने पर विपरीत क्रम से अपने में अन्तर्भूत कर लेती है। दिक्काल का अनन्त विस्तार भी इसी नित्य रूप अव्यक्त प्रकृति का स्वरूप ही है। इस प्रकार जगत् का प्रकाश तथा विलय सब कुछ प्रकृति में ही है, तथा इसमें प्रकृति से भिन्न किसी बाह्य तत्त्व का स्पर्श नहीं है।

सांख्य प्रकृति विषयक अपनी समस्त धारणाओं में जगत् की यथार्थता पर बल देता है। इसी यथार्थता की पुष्टि में वह जगत् को परिवर्तनशील नित्यता (प्रकृति) में प्रतिष्ठित करते हैं। उपनिषदों की यथार्थवादी प्रवृत्ति जो कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि में पाई जाती है, वह सांख्य के रूप में बहुत ही सुव्यवस्थित रूप में पनप गई है। जगत् अपनी इसी रूप में प्रकृति का यथार्थपरिणाम है और नित्य प्रकृति से यह स्वरूपतः भिन्न नहीं, अपितु यह उसी की अभिव्यक्तावस्था ही है। सृष्टि-प्रक्रिया पूरी तरह यथार्थ है। इससे जगत् के जड़पदार्थ ही नहीं अपितु बुद्धि, मन तथा इन्द्रियां भी उत्पन्न होते हैं। परिणामी अवस्थाओं में प्रकृति तत्त्वों का जटिल मिश्रण है जो सदैव परिवर्तित होता रहता है। यह पूरी तरह अचेतन होने पर भी गतिशील है जबकि इससे भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व है—पुरुष, जो संख्या में अनेक हैं। ये चेतन मात्र होते हुए भी बिल्कुल निष्क्रिय हैं। इन दोनों के औपचारिक संयोग से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।<sup>1</sup> इस क्षोभ के कारण ही गुणों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है तथा सृष्टि प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। सांख्य के विकासवादी सिद्धान्त में निम्नतम स्तर से उच्चतर स्तर के बीच श्रृंखला की अटूट कड़ियां हैं। सारा विकास

<sup>1</sup> पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

पङ्गवन्धवदुभयोरपिसंयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ — ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-21

एक निश्चित व्यवस्था में होता है, तथा विलय भी उसी तरह व्यवस्थित विपरीत क्रम में। सारा जगत् प्रकृति का क्रमिक परिणाम है जिनकी यथार्थता प्रकृति जैसी ही है।

सांख्यसूत्र (1/61) की व्याख्या करते हुए सांख्य प्रवचन भाष्य में विज्ञानभिक्षु साम्यावस्था की व्याख्या इस प्रकार करते हैं.....सत्त्वादिद्रव्यासणां या साम्यावस्थाऽन्यूनानतिरिक्तावस्थाऽन्यूनाधिकभावेनासंहतावस्येति यावत्। आकार्यावस्थेति निष्कर्षः।<sup>1</sup> साम्यावस्था में गुण किसी भी प्रकार हलचल नहीं करते। इस अवस्था में सत्त्वगुण, सत्त्वगुण में रजोगुण, रजोगुण में एवं तमोगुण तमोगुण में परिणमित होते रहते हैं।

इस अवस्था में कार्य अपने परम कारण अव्यक्त या प्रकृति में तिरोभूत हो जाते हैं। यह प्रकृति की स्वाभाविक स्थिति है— 'साम्यावस्था गुणानां या प्रकृतिः सा स्वभावतः।<sup>2</sup> प्रकृति स्वभाव से स्थिर नहीं है जैसा कि योगसूत्र (3/13) के व्यास भाष्य में कहा गया है— चलं च गुणवृत्तं अर्थात् गुणों की वृत्ति या स्वभाव चंचल है। साम्यावस्था में भी उनका यह स्वभाव बना ही रहता है किन्तु भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ का अभाव रहने से इस अवस्था में महदादि परिणाम नहीं उत्पन्न होते।

प्रत्येक पुरुष को मुक्त कराना ही प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन है— प्रतिपुरुषविभोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।<sup>3</sup> अचेतन होने के कारण सृष्टि के प्रति प्रकृति, उस श्रेष्ठ भृत्य के समान है जो अपने स्वामी पुरुष की सेवा में निःस्वार्थभाव से तत्पर रहता है।<sup>4</sup> जैसे कोई अनुरक्त मित्र अपने मित्र के बिना कुछ कहे ही उसका

<sup>1</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्यसूत्र 1/ 61 पर प्रवचनभाष्य

<sup>2</sup> सांख्य तत्त्वविवेचनम्

<sup>3</sup> सांख्यकारिका—57.

<sup>4</sup> स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् सांख्यसूत्र (3/61) एवं सांख्यतत्त्व कौमुदी सांख्यकारिका—61.

उपकार करता है क्योंकि उसका कार्य स्वार्थ प्रेरित नहीं होता है वैसे ही प्रधान, पुरुष के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन का सम्पादन करने के लिए प्रवृत्त होती है।<sup>1</sup> जैसे उष्ट्र द्वारा कुमकुम वहन किसी दूसरे के हेतु अर्थात् अपने स्वामी के लिए होता है उसी प्रकार प्रधान की सृष्टि चेतनात्मा के लिए होती है क्योंकि प्रकृति स्वयं उसका भोग नहीं कर सकती।<sup>2</sup> वैषम्यावस्था में चेतन के प्रतिबिम्ब से सचेष्ट हुई जड़ प्रकृति से जो कार्य उत्पन्न होते हैं, उन्हें ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में इस प्रकार कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्मादगणश्च षोडशकः ।

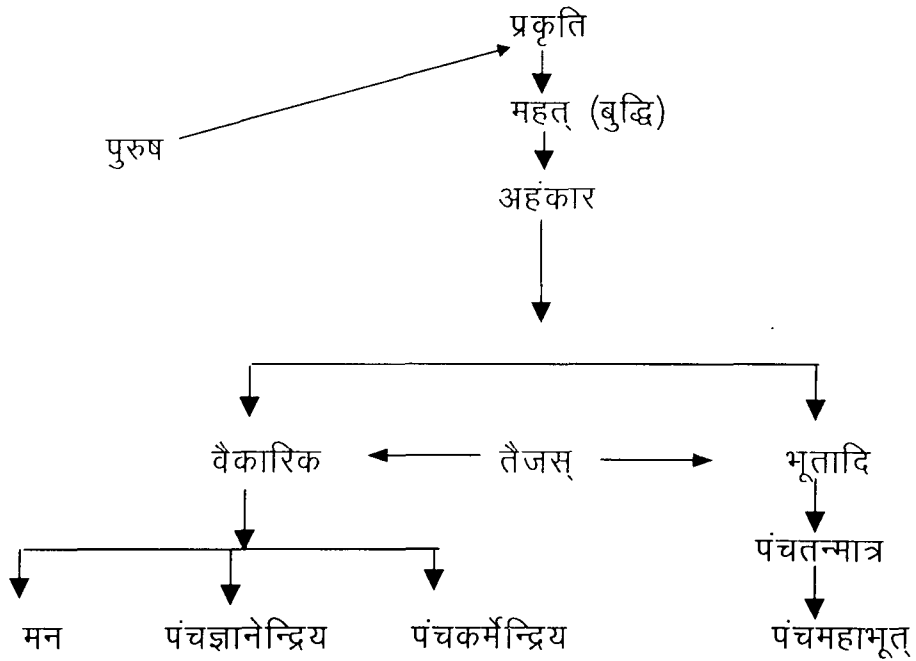
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि।<sup>3</sup>

अर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्व से अहंकार नामक तत्त्व उत्पन्न होता है और उस अहंकार से सोलह तत्त्वों (पांच तन्मात्राएं एवं ग्यारह इन्द्रियां) का समुदाय उत्पन्न होता है। उन सोलह तत्त्वों के समुदाय में से भी पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत होते हैं। सृष्टि प्रक्रिया का यह क्रम हम निम्नलिखित तरीके से प्रदर्शित कर सकते हैं—

<sup>1</sup> सांख्यकारिका की प्राचीन टीका परमार्थकृत चीनी अनुवाद का अय्यास्वामी कृत संस्कृत रूपान्तर (पृ० 84), उद्धृत सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, एवं माठरवृत्ति सांख्यकारिका-61 एवं गौडपाद भाष्य सांख्य कारिका-61 द्रष्टव्य है।

<sup>2</sup> प्रधानसृष्टि परार्थ स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्र कुमकुमवहन्वत् सांख्य सूत्र 3/58, अनुपभोगेऽपि पुमर्थ सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्र कुमकुमवहन्वत् 6/40 सां. सूत्र।

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-22



सांख्यकारिका में प्रतिपादित प्रकृति-विकृति की गणना निम्नलिखित कारिका में की गई है—

‘मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥’<sup>1</sup>

अर्थात् मूल प्रकृति न किसी का कार्य है, न कारण, महत् तत्त्व प्रकृति का कार्य है और अहंकार का कारण। महत् तत्त्व, अहंकार एवं पंच तन्मात्र का कारण-कार्य दोनों है। आकाशादि पंचस्थूलभूत तथा ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय केवल कार्य हैं यह प्रकृति से उत्पन्न हुए कार्यों का विवरण है। पुरुष तत्त्व न कार्य है, न कारण। प्रकृति से भिन्न एवं स्वतंत्र तत्त्व है। अव्यक्त से व्यक्तावस्था की ओर बढ़ने पर विकास का जो क्रम प्राप्त होता है वह इस प्रकार है—

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-3

5.1 : सृष्टि के विकास में सर्वप्रथम उत्पन्न तत्त्व महत् है—‘प्रथमं महत्. सर्गो।’<sup>1</sup> सांख्यतत्त्वयथार्थ्य दीपनम्<sup>2</sup> में कहा गया है— ‘त्रिगुणात्मकमाद्य कार्य बुद्धिरित्येकलक्षण’<sup>2</sup> अर्थात् महत्तत्त्व प्रकृति से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है और प्रकृति की ही भाँति त्रिगुणात्मक है। महत् तत्त्व त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सात्त्विकांश से उद्भूत हुआ है। रजस् और तमस् महत् तत्त्व में न्यून होते हैं और सत्त्व गुण अधिक होता है। योगभाष्य में सत्त्वगुणाधिक्य बताने हेतु ही चित्सत्त्व एव बुद्धि सत्त्व का अनेकशः प्रयोग हुआ है।<sup>3</sup> सांख्यतत्त्वविवेचन में ‘महत्’ तत्त्व को प्रधान के सात्त्विकांश से उत्पन्न कहा गया है—सात्त्विकांशात् प्रधानात् तु महत्तत्त्वम् जायते इति।<sup>4</sup> महत् और बुद्धि शब्द पर्यायवाची हैं किन्तु महत् शब्द वैश्विक और समष्टि पूरक अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से जहाँ ‘बुद्धि’ व्यक्तिनिष्ठ बुद्धि के अपेक्षाकृत सीमित पहलू का प्रतिनिधित्व करती है, वहीं महत् शब्द इस तत्त्व व्यापक रूप को अपने विश्वसनीय पक्ष में प्रदर्शित करता है इस प्रकार व्यष्टि ‘बुद्धि’ यह व्यापक आधार है। बुद्धि जहाँ मनोवैज्ञानिक पक्ष लेकर चलती है वही महत् विकासात्मक वैज्ञानिक पक्ष है। बुद्धि के पर्यायवाची शब्द हैं— मति, ख्याति, प्रज्ञा, और ज्ञान। अनुगीता में महान्, आत्मा, गति विष्णु—जिष्णु, शक्तिशाली शम्भु, बुद्धि प्रज्ञा, उपलब्धि, ब्रह्मा, धृति, स्मृति इन सभीपर्यायवाची शब्दों के द्वारा महत्तत्त्व का व्यवहार किया जाता है।<sup>5</sup> सांख्यकारिका में बुद्धि का विशिष्ट लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित

<sup>1</sup> पद्मपुराण सृष्टिखण्ड 3/76/81

<sup>2</sup> सांख्यतत्त्वयथार्थ्यदीपनम्, पृ० 35

<sup>3</sup> पातंजल, योगसूत्र, 2/17

<sup>4</sup> सांख्य संग्रह,

<sup>5</sup> सांख्य संग्रह, पृ० 31

है—अध्यवसायो बुद्धि ।<sup>1</sup> अन्त करण की निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि कहलाती है। अध्यवसायश्च निश्चयाख्यस्तस्याऽसाधारणी वृत्तिरित्यर्थ ।<sup>2</sup> बुद्धि तत्त्व की व्यापकता अहकारादि समस्त कार्यों में है। इस कारण से ही इसे महत् तत्त्व कहा जाता है। प्रकृति के सात्त्विक अंश से 'महत्तत्त्व' की उत्पत्ति होती है। यद्यपि 'महत्' में सत्त्व गुण का प्राधान्य है। तथापि इसमें रजस् एव तमस् का अंश भी विद्यमान रहता है, क्योंकि बिना दोनों गुणों के सत्त्व का अस्तित्व असम्भव है। सत्त्व की प्रधानता के कारण ही इसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की योग्यता होती है। इससे ही अग्रिम जगत् के विकास को देखकर सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन प्रभृति विद्वान यह मानते हैं कि सांख्य सम्मत सम्पूर्ण जगद्विकास को एक मनुष्य के मानसिक अनुभव पर आश्रित कहा जा सकता है।<sup>3</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार यही महत्तत्त्व 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है। इसी से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है।<sup>4</sup> तथा वे ही बुद्धि को कभी असफल न होने वाली तथा सब संस्कारों को धारण करने वाली मानते हैं।<sup>5</sup> अन्त करण त्रय मन, बुद्धि और अहकार में बुद्धि तत्त्व ही प्रधान है क्योंकि यही पुरुष के समस्त कार्य (भोग एवं मोक्ष) सम्पन्न करती है—सान्त.करणा बुद्धि सर्वविषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात्त्रिविध करण द्वारि द्वाराणिशेषाणि।<sup>6</sup>

सात्त्विक बुद्धि के धर्म या रूप इस प्रकार से हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य।<sup>7</sup> बुद्धि के इन धर्मों का विशद विवेचन सप्तम अध्याय में द्रष्टव्य है। धर्म वह

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—23 एवं तत्त्व कौमुदी

<sup>2</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य 2/14

<sup>3</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भाग 2, पृ० 238—239

<sup>4</sup> प्रो० एस० सी० श्रीवास्तव, आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान, पृ० 175

<sup>5</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य 2/41—42

<sup>6</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—35

<sup>7</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—23

है जो लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण का कारण बनता है। इसमें यज्ञ एवं दान आदि के अनुष्ठान या सम्पादन से उत्पन्न होने वाला धर्म अभ्युदय का हेतु है और अष्टांग योग से उत्पन्न होने वाला धर्म निःश्रेयस (पारलौकिक कल्याण) का हेतु है।

त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरुष के विवेक या भेद का साक्षात्कार ही ज्ञान है। राग का अभाव विराग अर्थात् वैराग्य है। उसकी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिक और वशीकार चार संज्ञाएँ (भेद) हैं। ऐश्वर्य भी बुद्धि का धर्म है। इसमें अणिमा इत्यादि की उत्पत्ति होती है। ये चारों बुद्धि के तामस् धर्म हैं। बुद्धि में रजस् एवं तमस् गुण भी होते हैं। किन्तु इसमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है, यही कारण है कि बुद्धि तत्त्व में पुरुष तत्त्व को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है।

5.1 क : बुद्धि के चार प्रमुख परिणाम हैं—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि। गुणों की विषमता या न्यूनाधिक्य के एक दूसरे गुण के दब जाने से इनके पचास भेद होते हैं।<sup>1</sup> विपर्यय अशक्ति और तुष्टि से बन्धन एवं सिद्धि से मोक्ष प्राप्त होता है— 'ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्यया दिष्यते बन्धः।'<sup>2</sup> बुद्धि के इन चार परिणामों के अन्तर्गत ही ज्ञान—अज्ञान, ऐश्वर्य—अनैश्वर्य, धर्म—अधर्म एवं वैराग्य—अवैराग्यादि का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अज्ञान का विपर्यय में, अधर्म अवैराग्य एवं अनैश्वर्य का अशक्ति में, तथा धर्म वैराग्य और ऐश्वर्य का तुष्टि में तथा ज्ञान का सिद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है।

अविद्या या विपर्यय

यह पाँच प्रकार का होता है किन्तु सूक्ष्म भेदों के कारण यह बासठ प्रकार<sup>3</sup> का

<sup>1</sup> एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिर्नाख्यः।

गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्॥ (सांख्यकारिका 46)

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—44.

<sup>3</sup> 'सोऽयं पञ्चविधो विकल्पो विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिरिति'

—तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका—48

कहा गया है—

भेदस्तमसोऽष्टविधोमोहस्य च दशविधो महामोह ।

तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ।।<sup>1</sup>

अविद्या के पांच प्रकार—अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश ।

अनित्य में नित्यता का ज्ञान, अपवित्रशरीरादि को पवित्र समझना, अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना, और दुःखदायक जगत् में सुख का बोध होना वस्तुतः विपर्यय या अविद्या है। अस्मिता, दृक-दर्शन शक्ति की एक रूप से प्रतीति होना, राग अज्ञान के कारण सुखदायक पदार्थों के प्रति जीव का सकारात्मक भाव एवं उसे प्राप्त करने की इच्छा राग है। दुःखद पदार्थों के प्रति हेयभाव रखना और उससे दूर रहने की इच्छा द्वेष है, और अपने अस्तित्व के विषय में 'मैं सदैव रहूँ' ऐसी कामना अभिनिवेश है।<sup>2</sup>

पंचपर्वों वाली अविद्या के सूक्ष्म भेद—

तमस् या अविद्या—प्रकृति, महत् अहंकार एवं पंच तन्मात्राओं में आत्मभावना करना तमस् है। इस प्रकार तमस् के आठ भेद हुए।

मोह या अस्मिता—अणिमादि अष्टसिद्धियों के लाभ से अपने को अजर या अमर मानना मोह है। मोह भी आठ प्रकार का हुआ।

महामोह या राग—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि दिव्यादि व्यभेद<sup>3</sup> से दस प्रकार के होते हैं। इनके प्रति उपादेय बुद्धि होना राग या महामोह है।

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—48

<sup>2</sup> योगसूत्र, व्यासभाष्य (1/8, 2/5, 2/6—9)

<sup>3</sup> मुनर्ष्यों को भौतिक शरीर द्वारा शब्दादि विषय का भोग होता है वे शब्दादि विषय शान्त, धोर, मूढ़ अवस्था वाले होते हैं। देवताओं द्वारा भुज्यमान्शब्दादि विषय अविशेष होते हैं, क्योंकि ये विषय शान्त, धोर, मूढ़ दशाओं से रहित होते हैं। देवानांशब्दादयः पंचतन्मात्राख्या विषयाविशेषाः (माठरवृत्ति, सांख्यकारिका—48)



तामिस्र या द्वेष-अष्टविध ऐश्वर्य तथा दिव्यादिव्य शब्दादि दस विषयों में से यदि किसी के प्रति अप्रीति हो गयी हो तो उसके प्रति द्वेष अथवा दूसरों द्वारा उपभुज्यमान् पदार्थों को देखकर उनके प्रति द्वेष होना ही तामिस्र या राग नामक क्लेश है।

अन्धतामिस्र या अभिनिवेश-तामिस्र के अट्टारह विषयों को प्राप्त करने की प्रबल कामना एवं प्राप्त करके भोग के समय उनके विनाश का भय होना अन्धतामिस्र है। इस प्रकार तमस् के आठ भेद + अन्धतामिस्र के अट्टारह भेद—मिलाकर विपर्यय या अविद्या के बासठ अवान्तर भेद हुए।

### अशक्ति

अशक्ति के अट्ठाईस भेद होते हैं पाँच ज्ञानेन्द्रिय+पाँच कर्मेन्द्रिय+एक मन = ग्यारह इन्द्रियों के कुण्ठित भाव या दोष भी ग्यारह हैं। सत्रह प्रकार के बुद्धिवध या दोष होते हैं। इन्द्रियों एवं बुद्धि दोषों को ही आशक्ति कहते हैं—<sup>1</sup> 'एकादशोन्द्रियवधाः सह बुद्धि वधैरशक्तिरुद्दिष्टा, ग्यारह इन्द्रियवध इस प्रकार से हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, ध्राण, वाक् पाणिपाद, पायु, उपस्थ और मन इन ग्यारह इन्द्रियों के कुण्ठित हो जाने पर क्रमशः ग्यारह प्रकार के इन्द्रिय वध या दोष होते हैं—बराहपन, कोढ़, अन्धापन, स्वादों का ज्ञान न होना, गन्ध का ज्ञान न होना, गूंगापन, हाथ का टूटा होना, लंगड़ापन नपुसंकत्व, गुदादोष तथा मनःस्तब्धता आदि हैं। बुद्धि के सत्रह दोष इस प्रकार हैं—नौ तुष्टि और अष्टसिद्धियाँ होती हैं, उनका अभाव तथा अभिभव के कारण बुद्धिदोष सत्रह हुए। ग्यारह इन्द्रियवध तथा सत्रह बुद्धिदोष मिलाकर अशक्ति के अट्ठाईस प्रकार होते हैं। तुष्टि एवं उनके अभाव इस प्रकार से हैं—1. प्रकृति तुष्टि

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-49 पूर्वार्द्ध

2. कालतुष्टि 3. उपादान तुष्टि 4. भाग्यतुष्टि 5. शब्दोपरमा, 6. स्पर्शोपरमा, 7. रूपोपरमा, 8. रसोपरमा, 9. गन्धोपरमा। इन तुष्टियों के अभाव से प्रकृत्यातुष्टि कालातुष्टि, उपादानातुष्टि, भाग्यातुष्टि, शब्दोपरमातुष्टि, स्पर्शोपरमातुष्टि, अतुष्टि भी नौ प्रकार की होती है। इसी प्रकार ऊह, शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिक—आधिभौतिक—आधिदैविक दुःख विधात् सुहृत्प्राप्ति और दान नामक अष्ट सिद्धियां हैं। इनका अभिभव या अभाव अनध्ययन, आध्यात्मिक—आधिभौतिक—आधिदैविक दुःखानभिधात्, सुहृदाप्राप्ति तथा आदान आदि हैं।

## तुष्टि

तुष्टि के नौ भेदों की विस्तार से चर्चा ईश्वरकृष्ण ने इस प्रकार किया है—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।

बाह्या विषयोपरमात् पंच च नव तुष्टयोऽभिमताः।।<sup>1</sup>

प्रकृति से सर्वथा भिन्न आत्मतत्त्व है, ऐसा समझकर भी जो व्यक्ति असत् उपदेश से सन्तुष्ट होकर श्रवण मननादि के द्वारा विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता उसकी आध्यात्मिक तुष्टियां चार प्रकार की होती हैं—

1. प्रकृति तुष्टि— यद्यपि प्रकृति—पुरुष के भेद ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है, यह सिद्धान्त है, तथापि किसी अल्पज्ञ गुरु द्वारा इस उपदेश से, कि विवेक साक्षात्कार प्रकृति का कार्य है, प्रकृति 'मुक्ति' कर ही देगी, ध्यान समाधि आदि की आवश्यकता नहीं है। ऐसा सन्तोष हो जाने से प्रकृति तुष्टि होती है। वह प्रकृति नाम वाली तुष्टि 'अभ्यस्' के नाम से भी जानी जाती है।

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—50

2. उपादान तुष्टि— विवेक ज्ञान प्राकृत, या प्रकृति का परिणाम होने पर भी केवल प्रकृति से नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने पर तो प्रकृति सब के प्रति समान होने से सब को सदा विवेक ज्ञान होने लगेगा, वह सन्यास से होता है। ध्यानादि की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है वह उपादान तुष्टि है। उपादान तुष्टि सलिलतुष्टि भी कहलाती है।
3. कालतुष्टि— सन्यास भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। वह कालान्तर में परिपक्व होकर ही तुम्हें विवेक ज्ञान देगा, तुम्हारे उद्विग्न होने से कोई लाभ नहीं, ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह काल नामक तुष्टि है। यह 'औघ' भी कहलाती है।
4. भाग्यतुष्टि—विवेक ज्ञान न प्रकृति से होता है, न काल से और न उपादान से अपितु भाग्य से ही होता है। इसीलिए मदालसा की सन्ताने बाल होने पर भी माता के उपदेश से ही विवेक-ज्ञान सम्पन्न होकर मुक्त हो गए, इसलिए भाग्य ही विवेक ज्ञान का कारण है, अन्य कुछ नहीं इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'भाग्य' नामक तुष्टि है यह तुष्टि 'वृष्टि' भी कही जाती है।

उपर्युक्त चारों आभ्यन्तर तुष्टियां हैं अन्तिम पांच बाह्य तुष्टियां हैं। शब्दादि पांच विषयों शब्द स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के अर्जन, संरक्षण विनाश और भोग में कष्ट, हिंसा के बिना शब्दादि का अर्जन नहीं हो सकता, इसीलिए कष्ट, इन क्लेशों के कारण तथा विषय दोष के दर्शन से भी इनके प्रति चित्त निवृत्त हो जाता है। इसे ही क्रमशः शब्दोपरमा तुष्टि, स्पर्शोपरमा तुष्टि, रूपोपरमातुष्टि एवं गन्धोपरमा तुष्टि कहते हैं। इनके अपर नाम योग में क्रमशः इस प्रकार हैं—

1. अम्भ 2. सलिल, 3. ओघ 4. सृष्टि 5. पार 6. सुपार 7. पारापार 8. अनुत्तमाम्भ
9. उत्तमांभ।

### अष्टसिद्धि

ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में सिद्धियों का परिगणन इस प्रकार किया है—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।

दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥<sup>1</sup>

ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःख विनाश, सुहृदप्राप्ति तथा दान ये आठ सिद्धियां हैं। अष्टसिद्धियों में प्रथम अध्ययन नामक सिद्धि केवल कारण हैं। दुःख के त्रिविध होने के कारण उसके विनाश भी त्रिविध हुए। ये त्रिविध दुःख-विनाश मुख्यसिद्धियां हैं। ये केवल कार्य हैं और लीच वाली सिद्धियां कार्य-कारण दोनों हैं। शास्त्रविधि पूर्वक गुरु-मुख से आध्यात्मविद्या के परायण का श्रवण 'अध्ययन' नामक प्रथम सिद्धि है, जो संसार तरण का प्रथम हेतु होने के कारण 'तार' कहलाती है उसका कार्य शब्द है। कार्य में कारण के आरोप द्वारा शब्द पद से शब्दोत्पन्न अर्थ ज्ञान सूचित होता है। यह दूसरी सिद्धि है, जो सरलतया संसार-तारक होने के कारण 'सुतार' कहलाती है। शास्त्रानुकूल युक्तियों से शास्त्रोक्त विषय की परीक्षा 'ऊह' है और यह परीक्षा संदिग्ध पूर्वपक्ष के परित्याग द्वारा उत्तरपक्ष या सिद्धान्त की स्थापना है। इसे ही शास्त्रज्ञ मनन कहते हैं। यह तीसरी सिद्धि अध्ययन और शब्द की अपेक्षा अधिक तारक होने से तारतार कहलाती है स्वयं किया गया और सुहृदों के द्वारा अकस्मात् मनन सम्यक् मनन नहीं है। साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-51.

किए हुए सिद्धान्त में तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक कि गुरु शिष्य और सहाध्यायियों के साथ सम्वाद नहीं कर लेता। अतः सुहृदों का संवाद सुहृत्प्राप्ति है।

यह चौथी सिद्धि शास्त्रार्थ संवाद में रमणीय होने के कारण 'रम्यक' कहलाती है।

दान—यहां दान पद की निष्पत्ति शोधन अर्थवाली 'देप्' धातु से होती है जिसका अर्थ है—विवेक ज्ञान की शुद्धि यह पांचवीं सिद्धि सर्वकालिक आनन्द का हेतु होने के कारण सदा मुदित कहलाती है।

दुःख या विनाश

आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखत्रया विनाश स्वरूप तीनों मुख्य सिद्धियाँ प्रमोद, मुदित और मोदमान कहलाती हैं। इस प्रकार कुल आठ सिद्धियाँ हुई बुद्धि के चतुर्विध परिणामों में सिद्धि ही ग्राह्य हैं।<sup>1</sup> विपर्यय अशक्ति और तुष्टि, सिद्धि के विघातक होने के कारण त्याज्य हैं।

पुरुषार्थ सम्पादन के लिये ही यह सृष्टि होती है और यह पुरुषार्थ बौद्धिक परिणाम एवं तन्मात्र परिणाम, दोनों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। बुद्धि परिणाम के बिना तन्मात्रपरिणाम न तो स्वरूपतः ही सिद्ध होगा, और न पुरुषार्थ में साधन ही बनेगा। इसीप्रकार तन्मात्रपरिणाम के बिना बुद्धिपरिणाम भी न स्वरूपतः ही सिद्ध होगा और न पुरुषार्थ में साधन बनेगा। भोग नामक पुरुषार्थ शब्द, शब्दादि विषयों तथा द्विविध (स्थूल और सूक्ष्म) शरीर रूप भोगायतनों के बिना असम्भव है। इसलिए तन्मात्र-परिणाम को मानना आवश्यक है। इसी प्रकार भोग नामक पुरुषार्थ स्वसाधनभूत इंद्रियों तथा अन्तःकरणों के बिना असम्भव है। 'अपवर्ग' नामक द्वितीय

<sup>1</sup> अत्र. प्रत्ययसर्गे सिद्धिरूपादेयेति प्रसिद्धमेव —सांख्यकारिका—51.

पुरुषार्थ का साधन भूत विवेक ज्ञान भी बिना द्विविध सर्ग के असम्भव है क्योंकि विवेक ज्ञान के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन आवश्यक है ये तीनों बुद्धि मनादि सूक्ष्म अन्तरिन्द्रिय के बिना असम्भव है।<sup>1</sup>

5.2 'अहकार' प्रकृति के दूसरे विकास के रूप में आता है, और यह 'महत्' का कार्य या परिणाम है। 'बुद्धि में प्रतिबिम्बित विषयों के प्रति पुरुष का आत्मभाव या आत्मीयता ही वह औपचारिक स्वायत्तीकरण है। जिससे व्यक्तित्व के ममत्व का उदय होता है। विषयों की आत्मस्वीकृति या अभिमान ही विकास की दूसरी ग्रन्थि है, जो परिणामी भावों का बीज बन जाती है। जिस प्रकार बीज से अकुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहकार अह को प्रकट करता है— 'अभिमानोऽहंकारः'<sup>2</sup> अभिमान करना अहकार का असाधारण व्यापार है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहकार का अर्थ अभिमान या आत्मप्रेम है। 'कूर्मपुराण' में अहकार का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है— अहकारोऽभिमानश्च कर्त्ता भन्ता च सस्मृत. आत्मा देही च जीवश्च यत सर्वा प्रवृत्तयः।<sup>3</sup> तत्त्वकौमुदी के अनुसार 'यत्खल्वालोचित मत च तत्र अहमधिकृत. शक्त. खल्वहमतत्र, 'मदर्थ एवामी विषया मत्तो नान्योऽत्राधिकृत. कश्चिदस्ति 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमान सोऽसाधारण व्यापारत्वादहकार'।<sup>4</sup> योग में अहकार को प्रायः 'अस्मिता' कहा गया है। यह ग्रन्थि ही क्रियाओं की बीजशक्ति है। यहाँ से पुरुष (आत्मा) का कर्तव्य प्रारम्भ होता है

<sup>1</sup> तत्त्वकौमुदी साख्यकारिका-51

<sup>2</sup> साख्यसूत्र 2/105

<sup>3</sup> कूर्मपुराण 1/4/19, एवं साख्यसूत्र 6/54, 1/63

<sup>4</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, साख्यकारिका-24

जिसमें पुरुष का प्रकृति बन्धन दृढ़ हो जाता है। तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति में अहंकार का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

अहं शब्दे अहं स्पर्शो अहं रूपे अहं रसे ।

अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः ।।

अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसोमया हतः ।

अहं हनिष्ये बलिभिः परेरित्येवमादिकः ।।<sup>1</sup>

अहंकार भौतिक नहीं है इसके अस्तित्व की सिद्धि इसके कार्यों द्वारा होती है। जिस प्रकार प्रकृति अतिसूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। महदादि कार्यों से इसका अनुमान किया जाता है और महत् तत्त्व का अनुमान अहंकार द्वारा होता है अर्थात् अहंकार महत् तत्त्व के अनुमान में लिंग बनता है।<sup>2</sup> अहंकार द्रव्य है क्योंकि यह इन्द्रियों एवं तन्मात्रों का उपादान कारण है।<sup>3</sup> अहंकार सात्त्विक, राजस् और तामस् भेद से त्रिविध होता है। इससे सृष्टि दो विभागों (रूपों) में होती है। ये भेद कार्यभेद की दृष्टि से किया गया है। इस अहंकार के अपने वास्तविक स्वरूप अथवा रचना में किसी प्रकार के भेद की सम्भावना नहीं की जा सकती। इन तीन प्रकार के अहंकारों के त्रिगुणात्मक होने पर भी सात्त्विक अहंकार तत्त्व प्रधान, राजस् रजः प्रधान और तामस् तमः प्रधान होता है। सात्त्विक या वैकृत अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, जो तामस अहंकार से उत्पन्न होने के कारण तमः प्रधान और

<sup>1</sup> तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति, पृ० 76

<sup>2</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य 1/63

<sup>3</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य 1/63

अहंकारश्चाभिमानवृत्तिकमन्तःकरणद्रव्यं न त्वभिमानम् द्रव्यस्यैव लोके द्रव्योपादानत्वदर्शनात् — सांख्यप्रवचन भाष्य 1/63.

फलतः जड या मन्द होती है। राजस अहकार (तैजस्) अन्य दोनों अहकारों का उनके द्वारा इन्द्रियो और तन्मात्राओं को उत्पन्न करने में सहकारी बनता है— सात्त्विक एकादश प्रवर्तते वैकृतादहकारात्। भूतादेस्तन्मात्रं स तामस तैजसादुभयम्।<sup>1</sup> साख्यकारिका के टीकाकारों ने इसी मत को स्वीकार किया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि साख्यसूत्रों में केवल 'मन' को ही वैकृत (सात्त्विक) अहकार से उत्पन्न माना गया है तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियो एवं पञ्चकर्मेन्द्रियो की राजस् अहकार से उत्पत्ति मानी गयी है।<sup>2</sup> महादेव वेदान्ती ने आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत का ही अनुसरण किया है। इन्होंने पच्चीसवीं साख्यकारिका के तेजसादुभय पद का अर्थ किया है— राजस् अहकार से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों की उत्पत्ति होती है।<sup>3</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु अपने मत की पुष्टि के लिए भागवतपुराण<sup>4</sup> को उद्धृत करते हैं—

वैकारिकस्तेजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।

अहतत्त्वादिकुर्वाणत्मनो वैकारिकादभूत्।

तेजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्मयानि च।

तमसो भूतसूक्ष्मादिर्यत् खल्वलिङ्गमात्मनः।

डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र का इस विषय में यह विचार है कि साख्य सिद्धान्त की दृष्टि से यह मत उचित या अनुचित जो भी हो, परन्तु साख्यकारिका<sup>5</sup> की पक्ति के

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका-25

तदुभयस्मिन्नपि कार्ये सत्त्वतमसो क्रियोत्पादनद्वारेणास्ति  
रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रज इति। —तत्त्वकौमुदी सा० का० 25

<sup>2</sup> गजाननशास्त्रीकृत साख्य प्रवचन भाष्य की हिन्दी व्याख्या एकादशाना पूरण  
मेकादशक मन षोडशात्मगणमध्ये सात्त्विक। अतश्च राजस  
हकाराददशेन्द्रियाणि, तामसहकाराच्च तन्मात्राणीत्यधिगन्तव्य (साख्यसूत्र 2/18)

<sup>3</sup> साख्यसूत्र 2/18

<sup>4</sup> साख्यसूत्र 2/18

<sup>5</sup> सात्त्विक एकादश प्रवर्तते वैकृतादहकारात्।

भूतदिस्तन्मात्रं स तामस तैजसादुभयम्॥ —साख्य कारिका— 25



अर्थ की दृष्टि से तो यह अवश्य ही युक्त नहीं लगता। जहाँ तक दोनों के अर्थों के सांख्यसिद्धान्तों के अनुकूल या प्रतिकूल होने का प्रश्न है वहाँ तत्त्वकौमुदीकार का ही मत अधिक सगत लगता है। यदि इस विषय में कोई शका करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करती? उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए। ऐसी शका तो विज्ञानभिक्षु के अर्थ के सम्बन्ध में होगी क्योंकि यदि इन्द्रियाँ सात्त्विक नहीं हैं केवल मन सात्त्विक है तो फिर ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का प्रकाशन क्यों करती हैं? इस प्रश्न का समाधान यह है कि उत्कृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से मन, मध्य सत्त्वप्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा निकृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती है। अतएव जहाँ मन सर्वाधिक विषय प्रकाशक है वहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ मन की तरह विषय का प्रकाशन नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो प्रकाशन करती ही नहीं। सात्त्विक होने से ही वे लघु एवं क्षिप्रकारिणी होती हैं।<sup>1</sup> ज्ञानेन्द्रियों में सत्त्वगुण मन की अपेक्षा न्यून होता है किन्तु कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का प्रकाशन करती हैं। प० उदयवीर शास्त्री के अनुसार इन्द्रियों की यह सृष्टि सात्त्विक ही है। डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी उपर्युक्त मतों में सामंजस्य स्थापित करते हुए लिखती हैं कि सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न न होते हुए भी ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का प्रकाशन करने में इसलिए समर्थ होती हैं क्योंकि तामसअंश उनमें उतना ही होता है जितना मन में। केवल तेजस् अर्थात् राजस् अहंकार की मात्रा अधिक रहती है इसीलिए उन्हें तेजस् अर्थात् राजस अहंकार से उत्पन्न माना गया है। ज्ञानेन्द्रियों में सात्त्विकांश मन के

<sup>1</sup> डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र कृत तत्त्वकौमुदी की हिन्दी व्याख्या, पृ० 238-239

तुल्य ही होता है। विषय का प्रकाशन वे मन की अपेक्षा न्यून रूप में करती है क्योंकि उनमें राजस् अहकार अधिक होता है। कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के समय तामस् अश की अधिकता हो जाती है सत्त्वाश न्यून हो जाता है इसलिए वे विषय का प्रकाशन नहीं करती हैं किन्तु उनमें सत्त्वाश पर्याप्त मात्रा में होता है। इस कारण वे क्षिप्रकारिणी होती हैं।<sup>1</sup>

5.3 : तत्त्वकौमुदीकार इन्द्रिय का लक्षण करते हुए लिखते हैं— जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहकार उपादान कारण हो, वह इन्द्रिय है— सात्त्विकाहकारो— पादानकत्वमिन्द्रियत्वम्।<sup>2</sup> इन्द्रिय का व्युत्पत्तिपरक अर्थ आचार्य वाचस्पति मिश्र इस प्रकार करते हैं— इन्द्रस्यसात्मनश्चिह्नत्वादिन्द्रियमुच्यते।<sup>3</sup> अर्थात् इन्द्रिया इन्द्र अर्थात् आत्मा की लिंग या अनुभापक होने के कारण इन्द्रिय कहलाती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु इन्द्रिय के सम्बन्ध में यह मत प्रकट करते हैं अहकार्यत्वेसतिकरणत्वमिन्द्रियत्वमिति<sup>4</sup> अर्थात् जो अहकार का कार्य होते हुए कारण भी हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। भावागणेश के अनुसार अन्य तत्त्व को न उत्पन्न करने वाली तथा जिसका उपादान कारण अहकार है वह इन्द्रिय है।<sup>5</sup> इन्द्रियों के प्रकार तीन हैं— आभ्यन्तरेन्द्रिय मन, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय।

5.3 क : ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों की संख्या 5+5 है। ज्ञानेन्द्रिय ये हैं—ध्रुव, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र।

<sup>1</sup> डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी, सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु, पृ० 153

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, सांख्यकारिका, 26 पर तत्त्वकौमुदी

<sup>3</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र सांख्यकारिका 26 पर तत्त्वकौमुदी

<sup>4</sup> इन्द्रियस्य सघातेश्वरस्य करणाभिन्द्रियम्। —सांख्यसूत्र 2/19 पर प्रवचन भाष्य

<sup>5</sup> तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्, पृ० 2

कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राण रसनत्वगाख्यानि।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।<sup>1</sup>

क्रमशः इन्द्रियों के विषय व व्यापार इस प्रकार हैं — घ्राणेन्द्रिय का विषय है—गंध, व्यापार है सूंघना। चक्षु का विषय है—रूप, व्यापार है देखना। त्वक् इन्द्रिय का विषय है—स्पर्श व व्यापार है—छूना और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है—शब्द, व्यापार है सुनना। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के व्यापार इस प्रकार हैं—वाक् बोलना, हस्त—आदान—प्रदान, पाद—गमनागमन, पायु (गुदा)—मलोत्सर्जन एवं उपस्थ का व्यापार है—प्रजनन।<sup>2</sup>

ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का बाह्य साधन हैं। ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत विषय का मनन मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। प्रायः सांख्यदार्शनिकों ने इंद्रियों का परिच्छिन्न परिमाण माना है किन्तु विन्ध्यवासी इन्द्रियों का विभु परिणाम मानते हैं।<sup>3</sup>

5.4 : मन वह इन्द्रिय है जिसका महत्त्वपूर्ण कार्य इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री का संश्लेषण करके उन्हें विचार (प्रत्यय) के रूप में परिणत करना, कार्यों के वैकल्पिक मार्गों का सुझाव देना, तथा इच्छा द्वारा दिए गए आदेशों का कर्मेन्द्रियों द्वारा पालन करना है। जिस प्रकार बुद्धि तथा आत्मभाव के विषय में है, उसी प्रकार मन के विषय

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 26

<sup>2</sup> सांख्यसूत्र 2/28 एवं रूपादिषु पंचनामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दश्च पंचानाम्।। —सांख्यकारिका—28

<sup>3</sup> युक्तिदीपिका—22

में भी इन्द्रिय तथा उसके कर्म में कोई भेद नहीं किया गया है। इन्द्रियों को द्वार माना गया है और मन को द्वाररक्षक कहा गया है।<sup>1</sup> सांख्य का मन सम्बन्धी विचार न्याय-वैशेषिक के मन सम्बन्धी विचार का विरोध करता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन को निरवयव एवं अणु माना गया है। परन्तु सांख्य 'मन' को अनित्य अर्थात् विनाशी मानता है।

मन इन्द्रियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण इन्द्रिय है। यह सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है—'इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं च'<sup>2</sup> यह आभ्यन्तरीन्द्रिय है। मन उभयात्मक अर्थात् इन्द्रियों का प्रवर्तक होने से वह ज्ञानेन्द्रिय है, और कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से कर्मन्द्रिय भी है—उभयात्मकमत्र मनः, संकल्पमिन्द्रियं च साधर्म्यात्। यह ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करने में और कर्मेन्द्रियों को साथ संयुक्त होकर कार्य करने में सहायता करता है। बाह्येन्द्रियों द्वारा प्राप्त किसी विषय का स्पष्ट ज्ञान होता है। अतः मन का असाधारण धर्म या लक्षण है—'संकल्पमत्रमनः'<sup>3</sup> अर्थात् संकल्प विकल्प करना है। मन ही ज्ञान का आधार है तथा ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाने का माध्यम है। मन विभु नहीं है एक उदाहरण देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि मन क्रियायुक्त है इसका उल्लेख श्रुतियों में भी पाया जाता है।<sup>4</sup> अतः मन विभु नहीं हो सकता। मन एक समय में एक ही इन्द्रिय से संयुक्त होता है क्योंकि मन व्यापक नहीं है। ज्ञान का साधन है। अतः मन करण है— न व्यापकत्वं

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीयदर्शन, भाग 2, पृ० 233-234.

<sup>2</sup> तत्त्वकौमुदी-सांख्यकारिका 27 एवं सांख्यसूत्र 2/26

<sup>3</sup> सांख्यकारिका-27 तत्त्वकौमुदी

<sup>4</sup> सांख्यसूत्र, 5/70

मनस करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वावास्यादिवच्चक्षुरादिवत्।<sup>1</sup> श्रीमद्भगवद्गीता में मन को इन्द्रियो से श्रेष्ठ बताया गया है।<sup>2</sup> इन्द्रियाणा हि सर्वेषामीश्वरमनउच्यते' कथन इसी तथ्य का समर्थन करता है।

55 पाच कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि अहकार तथा मन को तेरह करण' कहा जाता है। पच ज्ञानेन्द्रियो तथा पचकर्मेन्द्रियो को 'बाह्यकरण' कहा जाता है। इसके विपरीत बुद्धि, अहकार तथा मन को सम्मिलित रूप से 'अन्त करण' कहा जाता है। बुद्धि अहकार, और मन ये तीनों अन्त करण अपना अलग-अलग क्रमशः अध्यवसाय (निश्चय), अभिमान एवं सकल्प रूप व्यापार करते हैं—स्वालक्षण्य वृत्तिस्त्रयस्य सेषाभवत्यसामान्यासामान्यकरणवृत्ति प्राणाद्या वायव पच।।<sup>3</sup> उनका अलग-अलग व्यापार ऐसा असाधारण व्यापार है कि एक के व्यापार को दूसरा नहीं करता और जिस व्यापार को वे मिलकर करते हैं। पचवायु या प्राणों का धारण अर्थात् जीवन-धारण तीनों अन्त करणों के द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाने वाला व्यापार है। तेरह प्रकार के करणों में अन्त करण शरीर के भीतर वर्तमान रहते हैं। बाहरीकरण दस प्रकार के हैं जो कि तीन अन्त करणों के 'विषयाख्य' हैं। यानी उसके विषयों को उपस्थित करते हैं। अर्थात् उनके द्वारा किए जाने वाले सकल्प, अभिमान एवं अध्यवसाय रूप कार्यों में द्वार या साधन बनते हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रियों अपने आलोचन या विषय-प्रकाशन रूप व्यापारों के द्वारा तथा कर्मेन्द्रियों अपने-अपने विभिन्न

<sup>1</sup> साख्यसूत्र 5/59

<sup>2</sup> इन्द्रियाणि पराण्याहु इन्द्रियेभ्य पर मन

—श्रीमद्भागवद्गीता 3/42

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका-29

ज्यापारो के द्वारा अन्तःकरणो के विषयो को उपस्थित करती या उनके द्वारा अन्तःकरणो मे द्वार या साधन बनती है।<sup>1</sup> बाह्य इन्द्रियो अर्थात् बाह्यकरण का सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान से रहता है, परन्तु अन्तःकरण का सम्बन्ध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालो से होते है।

5.6 : तामस अहंकार से पंच तन्मात्रो की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियो तथा पंच तन्मात्रों की उत्पत्ति मे कोई पौर्वापर्य नहीं है क्योकि इनमे परस्पर कार्य-करण भाव नहीं है।<sup>2</sup> तन्मात्र की परिभाषा के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार तन्मात्र प्राकृतजनों के द्वारा पृथक्-पृथक् अनुभव न कर सकने के कारण अविशेष एवं सूक्ष्म हैं त्रिगुण के स्वभाव को व्यक्त न कर सकने के कारण उन्हें तन्मात्र कहा जाता है। 'युक्तिदीपिका' तथा 'तत्त्वसमास' की टीका के अनुसार अपने गुण को व्यक्त न करने के कारण इनका नाम 'अविशेष' है। तामस अहंकार से उत्पन्न होने के कारण उनमें प्रकाश का साहित्य सा है। ये विशेष और उनसे उत्पन्न पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म होने के कारण ये अतीन्द्रिय हैं।

आचार्य विन्ध्यवास महत्तत्त्व से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।<sup>3</sup> किन्तु अन्य सभी सांख्यदार्शनिको ने अहंकार से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार की है। जब अहंकार में सत्त्वांश अत्यन्त-न्यून हो जाता है। तथा तमस का आधिक्य होता है तब तन्मात्र रूप अधिभूत सृष्टि होती है। यह सृष्टि भी इन्द्रियग्राह्य नहीं होती अतः व्यवहार की दृष्टि से तन्मात्रो को सूक्ष्मभूत कहा जाता है।

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-32

<sup>2</sup> सांख्यसार पूर्वभाग

<sup>3</sup> युक्तिदीपिका, 22

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद गणश्चषोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि ।।<sup>1</sup>

शब्द स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध के भेद से तन्मात्र पंचविध हैं। योगसूत्र में इन्हें 'अविशेष' कहा गया है। अविशेष अवस्था में त्रिगुण शान्त, घोर और मूढ रूप में अभिव्यक्त नहीं रहते। तन्मात्रों के अतिरिक्त 'छठवां' अविशेष 'अस्मिता' मात्र है।<sup>2</sup> इनमें अन्य किसी भी तत्त्व का मिश्रण न रहने से इन्हें 'तन्मात्र' शब्द से कहा गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने तन्मात्रों के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष द्वारा उठाई गई शंका का समाधान इस प्रकार किया है—

तन्मात्र के कारण द्रव्य में रूपादि का अभाव होता है, तब तन्मात्रों में रूपादि धर्म कहाँ से आ जाते हैं? इस शंका का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं—त्रिगुण का न्यूनाधिक भाव से संयोगी ही तन्मात्रों में रूपादि का कारण है। जिस प्रकार—हल्दी—चन्दन दोनों में अलग—अलग लालिमा नहीं होती है किन्तु दोनों के संयोग विशेष से उनमें लालिमा उत्पन्न हो जाती है वैसे ही तन्मात्र के कारण द्रव्य में रूपादि का अभाव होने पर भी कारण द्रव्य में गुणत्रय के विशेष संयोग से तन्मात्रों में रूपादि धर्म आ जाते हैं। इस संदर्भ में वे वैशेषिकों के परमाणुओं में रूपादि धर्म मानने के मत को हेय मानते हैं।<sup>3</sup> परमाणु में रूपादि यदि हों तो उनका परमाणुत्व भंग हो जाएगा। वायु एवं आकाश के परमाणु में रूपादि मानें तो वायु एवं आकाश

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—22

<sup>2</sup> तस्मस्तस्मिस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता ।

न शान्ता नापि घटास्ते न मूढाश्चविशेषिणः ।।

—विष्णु पुराण, (1/2/48)

<sup>3</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य—1/62.

का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता।

पंच तन्मात्रों का उपादान अहंकार है और ये स्थूलभूत के कारण है।<sup>1</sup> अहंकार से शब्द तन्मात्र, तदनन्तर अहंकार सहकृत शब्द तन्मात्र से स्पर्श गुणयुक्त स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है। इसी क्रम से एक-एक गुणों की वृद्धि से क्रमशः रूपतन्मात्र, रस तन्मात्र एवं गन्ध तन्मात्र की उत्पत्ति होती है।<sup>2</sup> योगभाष्य में तन्मात्रों की उत्पत्ति का यही क्रम मिलता है।<sup>3</sup> विष्णु पुराण में भी तन्मात्रों की उत्पत्ति का यही क्रम प्राप्त होता है।<sup>4</sup> स्थूल महाभूत इनके लिंग हैं क्योंकि उनके द्वारा तन्मात्रों का अनुमान होता है। 'तन्मात्र' शब्द का अर्थ है 'मात्र उतने ही' अर्थात् अमिश्रित, जिनमें अन्य किसी तत्त्व का मिश्रण न हुआ हो। इन तन्मात्रों से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं।

5.7 : ये महाभूत 'विशेष' अर्थात् स्थूल कहलाते हैं क्योंकि ये शान्त, घोर, मूढ़ होते हैं। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी<sup>5</sup> में कहा है चूंकि आकाश, वायु इत्यादि स्थूल विषयों में कुछ सत्त्व प्रधान होने के कारण शान्त, सुखात्मक, प्रकाशरूप और लघु, कुछ रजःप्रधान होने के कारण घोर, दुःखात्मक और चंचल तथा कुछ तमः प्रधान होने के कारण मोहात्मक, विषादरूप और गूढ़ होते हैं। इसलिए ये 'विशेष' और 'स्थूल' कहे जाते हैं। तन्मात्रों में अनुभवयोग्य सुख, दुख मोह इत्यादि विशेषताएँ नहीं

<sup>1</sup> शब्दस्पर्शरूपरसगन्धनिर्विशेषास्तद्वन्ति सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राः। निर्विशेषशब्दादि गुणवद् द्रव्य तन्मात्रा इति सामान्य लक्षणम्। अहंकारोपादानत्वे सति तत्त्वान्तरारम्भकत्वं द्वितीयं लक्षणम्।

—पृ० 37 सांख्यतत्त्वयथार्थदीपनम्,

<sup>2</sup> सांख्य प्रवचन भाष्य—1/62.

<sup>3</sup> व्यास भाष्य, 2/19.

<sup>4</sup> विष्णु पुराण, 1/2/37-43.

<sup>5</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका 38



होती। ईश्वरकृष्ण ने इस विषय पर निम्नलिखित कारिका प्रस्तुत की है—

तन्मात्रण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पच पचभ्य ।

स्ते स्मृता विशेषा शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ साख्यकारिका —38

अर्थात् पच तन्मात्र अविशेष' अर्थात् सूक्ष्म विषय है इन पाचो से आकाशादि पचभूत उत्पन्न होते हैं जो 'स्थूल' कहे जाते हैं। क्योंकि ये सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक होते हैं। पच तन्मात्राओ से पचमहाभूतों की उत्पत्ति के विषय में सांख्य दर्शन के भाष्यकारों में दो मत पाए जाते हैं। साख्यकारिका के भाष्यकार<sup>1</sup> के अनुसार शब्द तन्मात्र से आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है जिसका गुण शब्द है। स्पर्श तन्मात्र से वायु महाभूत उत्पन्न होता है और इसका गुण स्पर्श है। रूप तन्मात्र से तेज महाभूत का आविर्भाव होता है जिसमें रूप गुण पाया जाता है। रस तन्मात्र से जल महाभूत और गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी महाभूत उत्पन्न होते हैं जिनमें क्रमशः रस और गन्ध गुण उत्पन्न होते हैं। किन्तु वाचस्पति मिश्र गौडपाद के दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शब्द तन्मात्र से आकाश महाभूत उत्पन्न होता है जिसका गुण शब्द है। स्पर्श तन्मात्र + शब्द तन्मात्र से वायु महाभूत उत्पन्न होता है जिसमें शब्द और स्पर्श गुण होता है। रूप तन्मात्र+शब्द तन्मात्राओ से तेज महाभूत का आविर्भाव होता है जिसमें रूप स्पर्श और शब्द गुण होते हैं। रस तन्मात्र+ शब्द+स्पर्श+रूप तन्मात्राओं से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है जिसमें गन्ध, शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुण होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र न्याय—वैशेषिक दर्शन के विचारों से प्रभावित हैं जिसमें परमाणुओं में गुणात्मक

<sup>1</sup> साख्यकारिका, 38 पर गौडपाद भाष्य, उद्धृत, राममूर्ति पाठक, भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृ0 20

भेद स्वीकार किया जाता है।

तन्मात्र के सम्बन्ध में एक और मत प्राप्त होता है। तन्मात्रों को केवल एकैक गुणवाला माना गया है। तत्त्वकौमुदी युक्तिदीपिका और योगभाष्य आदि में एकैक गुण वाला मत नहीं प्राप्त होता है। इन सभी ने पूर्वोक्त मत को माना है। मार्कण्डेय पुराण में आकाशादि को क्रम से उत्पन्न एकैक गुणात्मक कहा गया है। लिङ्गपुराण भागवत पुराण और भविष्यपुराण में इन्हें एक, द्वि त्रि, चतु और पञ्च गुणात्मक कहा गया है। गौडपादभाष्य, जयमंगला और माठरवृत्ति में तन्मात्रों को एक-एक गुणवाला तथा उन्हीं से आकाशादि महाभूतों को साक्षात् उत्पन्न कहा गया है। आकाशादि पञ्चमहाभूतों का ही परिणाम यह समस्त स्थूल सृष्टि है।

5.8 : सांख्यशास्त्र में सूक्ष्मशरीर का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

पूर्वोत्पन्नमसक्त महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्

ससरति निरुपभोग भावैरधिवासित लिङ्गम्।<sup>1</sup>

अर्थात् यह सूक्ष्मशरीर सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होने वाला अप्रतिहत रूप से सर्वत्र (शिला) आदि में प्रवेश करने वाला, महाप्रलय पर्यन्त एक ही बना रहने वाला, महत्तत्त्व से सूक्ष्म तन्मात्र पर्यन्त तत्त्वों (महत्तत्त्व, अहकार, मन सहित ग्यारह इन्द्रियो एवं पञ्चतन्मात्रों) से संघटित होने वाला, भोग रहित, धर्माधर्म आदिभावों से युक्त एवं ससरण करने वाला अर्थात् विभिन्न जन्मों में गमन करने के रूप में विभिन्न स्थूल शरीरों को ग्रहण करता और छोड़ता है।

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका 40

सूक्ष्म शरीर को 'अष्टदशअवयवात्मक' कहा गया है, क्योंकि यह अट्ठारह अवयवों से निर्मित है। यह सूक्ष्मशरीर सृष्टि से लेकर महाप्रलय पर्यन्त रहता है। जब तक जीव को मुक्ति नहीं मिल जाती तब तक जीव का इस शरीर से सम्बन्ध बना रहता है।<sup>1</sup> जीव पुराने स्थूल शरीर को त्यागकर पुनःपुनः नूतन शरीर को धारण करता है। यह सब सूक्ष्मशरीर के कारण ही सम्भव है क्योंकि संसरण जीव नहीं करता, संसरण सूक्ष्मशरीर ही करता है। सूक्ष्म शरीर को 'लिंग' या 'लिंग शरीर' भी कहा जाता है : प्रत्येक पदार्थ 'लिंग' है क्योंकि वह 'लयंगच्छति' इस व्युत्पत्यर्थ के अनुसार अपने कारण में लीन हो जाता है व अपने अज्ञात कारण की सत्ता को सूचित करता है। सूक्ष्मशरीर भी अपने कारण की सत्ता का सूचक है, व पुरुष की सत्ता का भी सूचक है, क्योंकि यह पुरुष के बिना नहीं रह सकता, पुरुष सत्ता का सूचक होने के कारण भी सम्भवतः इसे 'लिंग' या 'लिंग शरीर' कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध स्थापित करने के कारण जीव ही संसरणशील प्रतीत होता है। धर्माधर्मादि आठ भावों से बुद्धि युक्त होती है और बुद्धि से युक्त रहता है—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शरीर भी बुद्धि के धर्मादि भावों से उसी प्रकार युक्त होता है जिस प्रकार सुगन्धित चम्पक पुष्प के सम्पर्क के कारण वस्त्रादि जो उसके अतिनिकट (या चिपके) रहते हैं, तो संसरण सुवासित हो जाते हैं। धर्माधर्मादि अष्ट भावों से युक्त होने के कारण सूक्ष्म शरीर संसरण करता है।

सांख्यकारिकाकार सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं—  
जैसे चित्र बिना आश्रय या भित्ति के नहीं बनाये जा सकते एवं 'छाया' स्तम्भ आदि के

<sup>1</sup> लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःख स्वभावेन, सांख्यकारिका-55.

बिना नहीं रह सकती है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के बिना बुद्धि आदि भी नहीं रह सकते—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्योबिनायथाच्छाया ।

तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंगम् ॥<sup>1</sup>

### भौतिक सर्ग

भौतिक सर्ग में त्रिविध<sup>2</sup> सृष्टि होती है। देवसृष्टि, तिर्यक् सृष्टि तथा मनुष्यसृष्टि। तन्मात्राओं से पंचमहाभूत या स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। इन भूतों से जो विभिन्न प्रकार के स्थूल शरीर एवं पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे ही संक्षेप में भौतिक सर्ग के अन्तर्गत हैं। स्थूल शरीरों के प्रमुख प्रकारों को योनियों के नाम से भी अभिहित किया जाता है। देवसृष्टि आठ, तिर्यक सृष्टि पाँच तथा मनुष्य सृष्टि एक प्रकार की होती है।

### देवसृष्टि

ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच यह आठ प्रकार की देवों की सृष्टि होती है।

### तिर्यक सृष्टि

पशु, मृग (पशु भिन्न मूषक आदि जीव जन्तु), पक्षी, सरीसृप (सर्प आदि), स्थावर (वृक्ष, लता आदि), ये तिर्यक सृष्टि हैं।

### मनुष्य सृष्टि

यह सृष्टि एक प्रकार की ही होती है यही संक्षेप में भौतिक सर्ग है। चैतन्य के

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका — 41

<sup>2</sup> अष्ट विकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्चपञ्चधाभवति।

मानुषकश्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः ॥ (सांख्यकारिका—54)

आधिक्य और न्यूनत्व के कारण ऊर्ध्व, अधः और मध्यम लोकों में जन्म होने से भौतिक सृष्टि त्रिविध होती है— ऊर्ध्व लोक अर्थात् देवयोनियों में सत्त्व प्रधान, अधोलोक ( पशु आदि निम्न या निकृष्ट योनियों) में तमः प्रधान, तथा मध्यलोक (मनुष्य लोक) या मनुष्य योनि में सृष्टि रजः प्रधान है।<sup>1</sup> यही ब्रह्मा से लेकर त्रिणादि पर्यन्त सृष्टि है।

5.9 : प्रकृति का भूतादि पर्यन्त सारा परिणाम जिस व्यापक पटल पर होता है वह दिक् तथा काल से विनिर्मित है। ये ही जगत् के आधार भूत तत्त्व हैं। सारा व्यापार इसी सांचे में परिस्पन्दित तथा क्रियाशील रहता है। परिवर्तनों का यह सारा क्रम अनन्त विस्तार में फैला हुआ है। सारे परिवर्तन काल में ही सम्भव होते हैं। यथार्थ जगत् में सूक्ष्मता की अंतिम परिणति जहाँ परमाणु में होती है वहीं काल की सूक्ष्मता 'क्षण' तक पहुँच जाती है। परमाणु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जितने समय में जाता है। वही सूक्ष्म काल 'क्षण' कहा जाता है। क्षण वस्तुगत होता है। सारा क्रम क्षण के आश्रय से ही प्रवाह रूप से चलता रहता है। क्षणों का यह क्रमिक नैरन्तर्य बना रहता है। क्षण की यह अनन्तरता प्रक्रम के रूप में काल की अवबोधक है। वर्तमान रूप में अवस्था वाला एक ही 'क्षण' सत्ता में होता है, ऐसा योग दर्शन का मानना है।<sup>2</sup> परन्तु क्षणमात्र को वर्तमान न तो अनुभव संगत है और न तर्कसंगत ही। आधुनिक विज्ञान भी वर्तमान को अनन्त क्षणों का एक कालखण्ड मानता है। वस्तुतः वर्तमान का सारा अनुभव भूत के साथ इस तरह सम्बद्ध है कि उसे पृथक् रूप में

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 54

<sup>2</sup> योग व्यासभाष्य (3-52)

समझा ही नहीं जा सकता है। परन्तु सारे वर्तमान अनुभव ही कालान्तर में भूत होते जाते हैं। अतः उन्हें भी हम वर्तमान के रूप में समझ सकते हैं। हर क्षण सारा विश्व परिवर्तन के सर्वव्यापी दौर से गुजर जाता है। वर्तमान की यह सारी समष्टि प्रकृति की क्रमिक अभिव्यक्तियों के रूप में हमारे सामने आती रहती है। यह सारा क्रम प्रवाह रूप में अखण्ड है फिर भी व्यवहार के कारण उनमें भेद मानना होगा।

दिक् भी काल की भाँति सर्वव्यापी है। ये दोनों ही अपने व्यावहारिक रूप में परिमित रूप में हमारे समक्ष आते हैं। दिक्काल प्रकृति के ही अपरिमित स्वरूप हैं। इन्हें अलग तत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया है। सांखाचार्य उन उपाधियों को ही कालभेद के व्यवहार का कारण मानते हैं जो इन्हें परिमित करके व्यावहारिक रूप देती है।<sup>1</sup> दिक्काल प्रकृति के स्वभावानुकूल नित्य हैं तथा उसमें व्याप्त अमूर्त भावों के रूप में आधारभूमि का निर्माण करते हैं। सारे पदार्थों की स्थिति दिक् तथा उनके परिणाम काल से सम्बद्ध होने के कारण जगत् को समस्त पदार्थनिष्ठ घटनाओं को इन्हीं (दिक्काल) से ही सम्बन्धित किया जाता है। दिक्काल की उद्भावना आकाश<sup>2</sup> आदि से बनाई गई है। आचार्य विज्ञानगिषु ने इन्हें प्रकृति के गुण विशेष के रूप में स्वीकार किया है। व्यवहार में प्रयुक्त दिक्काल आकाश के साथ विभिन्न उपाधियों के संयोग होने से बताये गये हैं। काल की अनन्तता परार्थनिष्ठ नहीं है क्योंकि उनके क्रम की श्रृंखला बुद्धि सापेक्ष है। दिक् के दो कार्य हैं – एक तो सापेक्ष स्थिति (दिक्) तथा दूसरा विस्तार (देश) इस प्रकार दिक् तथा काल अमूर्त रूप में व्यक्त

<sup>1</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, सांख्य तत्त्वकौमुदी, कारिका-33

<sup>2</sup> दिक्कालावकाशादिभ्यः ।। (सांख्यसूत्र 2-12)

सृष्टि के आधार रूप में सारी घटनाओं को सम्भव बनाते हैं। प्रकृति द्रव्यों की उत्पत्ति के लिए दिक्काल की उद्भावना साथ-साथ कर देती है जिसमें द्रव्यों का कालान्तर में विकास होता है। इस प्रकार द्रव्य की भाँति दिक्काल भी प्रकृति का अनिवार्य स्वरूप ही है।

मूल प्रकृति में से भिन्न व्यवस्थाओं के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विशिष्ट होकर मूल प्रकृति में विलीन हो जाने का नाम विनाश है। प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ होने के परिणाम स्वरूप विश्व अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों के साथ विकसित होता है, और युग की समाप्ति पर पदार्थ विपरीत गति द्वारा विकास की अपनी पूर्व स्थिति में लौट जाते हैं और अन्त में प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, जब तक कि नए विश्व के विकसित होने का समय नहीं आता।<sup>1</sup> प्रो० हिरियन्ना ने प्रकृति की एक विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है, साधारणतया विचारकों ने यह माना है कि विश्व का मूल कारण दिक् और काल में व्याप्त रहता है। परन्तु साख्य प्रकृति को दिक् और काल की सीमा से परे मानता है। प्रकृति दिक् और काल में नहीं है, बल्कि यह दिक् और काल को जन्म देती है।<sup>2</sup> जगत् की सृष्टि एवं इसके विकास का विवेचन करने के पश्चात् इस विषय में, साख्य सम्मत सिद्धान्त के प्रति आक्षेप व विशेषताओं की चर्चा अपेक्षित है।

साख्य दर्शन में जगत् की सृष्टि का मूल प्रकृति को माना गया है। इसकी अवधारणा दोषपूर्ण है। साख्य द्वारा प्रकृति के स्वरूप विवेचन में दोष दिखाई देता

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग-2 पृ० 240

<sup>2</sup> उद्धृत डॉ० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० 238

है। एक तरफ तो प्रकृति को निर्वैयक्तिक कहा गया है, क्योंकि प्रकृति को त्रिगुणों की साम्यावस्था कहना इसी ओर संकेतित है। दूसरी ओर कही-कही प्रकृति के स्वरूप विवेचन में उसे स्त्री, प्रसवधर्मिणी, गुणवती, उपकारिणी नटी के समान प्रदर्शन करने वाली, सुकुमार, लज्जाशीला आदि कहना उसे एक व्यक्तिवान सत्ता सिद्ध करता है जो उस प्रधान तत्त्व निर्वैयक्तिकता, जडता, स्वतंत्रता, निरपेक्षता आदि को निरर्थक ही सिद्ध करता है।

आचार्य शंकर<sup>1</sup> ने अनुमान के आधार पर जगत् के अचेतन कारण की स्थापना को नकार दिया है। उनका कथन है कि निरूपण किया जाय तो लोक में स्वतंत्र—चेतन से अनधिष्ठित अचेतन विशिष्ट पुरुषार्थ के साधन में समर्थ विकारों की रचना करता हुआ नहीं देखा जाता। घर महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि कालानुसार सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार करने योग्य पदार्थ बुद्धिमान शिल्पियों से रचे गये देखने में आते हैं। उसी तरह भिन्न—भिन्न कर्मफल के उपभोग के योग्य पृथ्वी आदि बाह्य जगत् और भिन्न—भिन्न जातियों से युक्त असाधारण अवयवों से युक्त अनेक कर्मफलों के अनुभव का अधिष्ठान रूप दृश्यमान शरीर आदि आध्यात्मिक जगत् जिसकी आलोचना बड़े-बड़े शिल्पी मन से भी नहीं कर सकते, उसकी रचना अचेतन प्रधान किस प्रकार कर सकता है? अचेतन प्रकृति किसी चेतन निदेशक के अभाव में विश्व की व्यवस्था, सौन्दर्य, सामंजस्य, सुडौलता आदि के लिए कैसे उत्तरदायी हो सकती है।

यदि सांख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृति की प्राक्कल्पना को स्वीकार कर लिया

---

<sup>1</sup> ब्रह्मसूत्र, 2/1/1 पर शांकर भाष्य



जाय तो गति और प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। शंकराचार्य का कथन है कि मृत्तिका के समान कोई भी वस्तु किसी चेतन सत्ता की सहायता के अभाव में कोई रचना नहीं कर सकती। यद्यपि अचेतन वस्तु में दिखाई देने वाली प्रवृत्ति अचेतन की ही है तथापि वह प्रवृत्ति अचेतन से अधिष्ठित होने पर ही देखी जाती है। पुरुष यह कार्य कर नहीं सकता क्योंकि वह उदासीन है। अतः किसी निदेशक चैतन्य के अभाव में प्रकृति किस प्रकार अपनी क्षमताएँ विकसित कर सकती है।

सांख्यदर्शन में विकासवाद का प्रारम्भ प्रकृति पुरुष सम्बन्ध द्वारा बताया गया, इस हेतु अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किए गये हैं किन्तु सांख्य एक दृष्टान्त के असिद्ध होने पर अगला दृष्टान्त प्रस्तुत करता है किन्तु वह अपने ही जाल में फँसता चला जाता है वस्तुतः विकासवाद में द्वैतवाद की प्राक्कल्पना सबसे दोषपूर्ण है, जिसकी विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी।

सांख्य मत में संसार की समस्त वस्तुएँ निर्मित होती हैं। प्रकृति जड़ है। जब भी किसी भौतिक वस्तु से किसी पदार्थ का निर्माण होता है तो उस भौतिक वस्तु में न्यूनता अवश्य आती है। इस दृष्टि से प्रकृति में जिससे समस्त संसार विकसित होता है न्यूनता आनी चाहिए। परन्तु इसके विपरीत सांख्य की प्रकृति में किसी प्रकार का हास नहीं होता है प्रकृति से समस्त वस्तुओं का विकास होता है, परन्तु प्रकृति का स्वरूप पूर्वरूपेण ही बना रहता है, प्रो० हिरियन्ना ने अपनी पुस्तक “out lines of Indian philosophy” में सांख्य के विकासवाद की एक विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, सांख्य का विकासवाद ‘जड़ अविनाशी है’ की मान्यता पर आधारित है। इस विशेषता पर दृष्टिपात करने से विकासवाद के विरुद्ध किए गये इस आक्षेप

का उत्तर मिल जाता है। यह आलोचना उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा की जाती है जो साख्य के विकासवाद की मान्यता को नहीं समझ पाते हैं।<sup>1</sup> साख्य दर्शन में यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि विकासवाद का कारण प्रयोजनमूलक है। तार्किक दृष्टि से उसे नहीं स्वीकारा जा सकता। आचार्य शंकर<sup>2</sup> के अनुसार यदि प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उस प्रवृत्ति में दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं, ऐसा मानने पर तो, जिस प्रकार प्रधान को किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं होगी, ऐसी अवस्था में प्रधान पुरुष के भोग तथा मोक्ष रूप अर्थ की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी। ऐसा कहने पर कि प्रधान केवल सहकारी की ही अपेक्षा नहीं रखता है, प्रयोजन की अपेक्षा तो रखता ही है तो भी प्रधान की प्रवृत्ति के प्रयोजन का विवेचन करना चाहिए कि भोग उसकी प्रवृत्ति का प्रयोजक है या अपवर्ग है अथवा भोग और मोक्ष दोनों हैं। यदि पुरुष का प्रवृत्ति में भोग प्रयोजक हो तो सुख आदि अतिशय रहित पुरुष का भोग किस प्रकार होगा? और पुरुष के मोक्ष का अभाव भी मानना पड़ेगा। यदि मोक्ष प्रयोजन हो, तो प्रवृत्ति के पूर्व में भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निरर्थक हो जाएगी और शब्द आदि की अनुपलब्धि का प्रसंग आएगा। प्रधान की प्रवृत्ति भोग और अपवर्ग दोनों के लिए है, यदि ऐसा माने, तो भी भोग योग्य पदार्थों प्रधान मात्राओं के अनन्त होने से मोक्ष के ही अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। पुन विकास का प्रयोजन उत्सुकता की निवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि अचेतन प्रधान में औत्सुक्य-इच्छा सम्भव नहीं है,

<sup>1</sup> उद्धृत डॉ० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० 254

<sup>2</sup> अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ब्रह्मसूत्र 2/2/6 पर शांकरभाष्य।

इसी प्रकार निर्मल एवं निष्फल पुरुष में भी औत्सुक्य नहीं हो सकता है। प्रधान में सर्ग शक्ति और पुरुष में दृक्शक्ति की सार्थकता के लिए यदि प्रवृत्ति स्वीकार कर ली जाये, तो जैसे पुरुष की दृक्शक्ति नित्य है, वैसे ही सर्ग शक्ति के नित्य होने से तथा संसार का विनाश न होने से मोक्ष का अभाव मानना पड़ेगा। अतः यह कहना कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के प्रयोजन के निमित्त है, यह कथन अयुक्त है।

सृष्टि क्रम में, विभिन्न विकृतियों के क्रम का सांख्य कोई युक्तियुक्त प्रमाण नहीं दे सका है। प्रकृति से विकृति तत्त्वों की व्याख्या तार्किक दृष्टिकोण से सिद्ध नहीं होती। आचार्य विज्ञानभिक्षु इस दोष से अभिज्ञ हैं और इसीलिए उन्होंने सांख्य के विकास विषयक विवरण को शास्त्र के प्रमाण के आधार पर स्वीकार करने की सम्मति प्रदान किया है — “अत्र प्रकृतेर्महान महतोऽहंकार’ इत्यादि सृष्टिक्रमे शास्त्रमेव प्रमाणम्” (सांख्यसार) यदि विकास के क्रम को शास्त्रों के अनुसार सही मान लिया जाए तो सृष्टि क्रम को तर्क से मानना असंभव ही होगा।

सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया में प्रधान प्रकृति से उत्पन्न प्रथम तत्त्व महत् की स्थिति भ्रम पूर्ण है।

डॉ० राधाकृष्णन<sup>1</sup> का मत है कि प्रथम अवस्था में जब बुद्धि उपस्थित होती है, ये सब (अहंकार मन) उपस्थित नहीं होते इसलिए हमें विश्व सम्बन्धी अर्थों में ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् विषयी तथा विषय, प्रत्यक्ष करने वाले तथा प्रत्यक्ष के विषय में भेद का आधार समझना चाहिए। किन्तु तब हमें एक विश्वात्मा को मानना होगा, जिसे सांख्य स्वीकार नहीं करता महत् की स्थिति को एक अनिश्चित दशा में छोड़ दिया

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग—दो, पृ० 266—67

गया है। बुद्धि प्रकृति के उत्पन्न पदार्थ तथा अहकार की उत्पादिका के रूप में उस बुद्धि से भिन्न है जो इन्द्रियो, मन तथा अहकार की प्रक्रियाओं को वश में रखती है। यदि दोनों को एक समान माना जाय तो प्रकृति के सम्पूर्ण विकास को विषयानिष्ट मानना पड़ेगा क्योंकि अह तथा अनह दोनों ही बुद्धि से उत्पन्न हैं।

महत् के प्रकृति से प्रथम उत्पन्न होने का विचार कठोपनिषद् में दिये गये अव्यक्त से महान् आत्मा के विकास के विचार से मिलता है। महत् से भी पर सूक्ष्मतर प्रत्यगात्मस्वरूप और सबसे महान् अव्यक्त है, जो सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत, अव्यक्त नाम रूपों की सत्ता स्वरूप सम्पूर्ण कार्य-कारण शक्ति का समाहार, अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि नामों से निर्दिष्ट होने वाला तथा वट के धाने में रहने वाली वटवृक्ष की शक्ति के समान परमात्मा में ओत-प्रोत भाव से आश्रित है। उस अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण कारणों का कारण तथा प्रत्यगात्म रूप होने से पुरुष पर—सूक्ष्मतर एव महान् है। इसीलिए वह सबमें पूरित रहने के कारण पुरुष कहा जाता है। उसके सिवा किसी दूसरे उत्कृष्टता के प्रसंग का निवारण करते हुए कहते हैं कि पुरुष से पर और कुछ नहीं है। क्योंकि चिद्घनमात्र पुरुष से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है इसलिए वही सूक्ष्म तत्त्व, महत्त्व और प्रत्यगात्म की पराकाष्ठा-स्थिति अर्थात् पर्यवसान है।<sup>1</sup>

साख्य मत में महत् विश्वीय रूप का प्रतिनिधित्व करता है। इसे ही बुद्धि भी कहा जाता है जो मनोवैज्ञानिक पक्ष है तथा यही प्रत्येक व्यक्ति में स्थित रहता है

<sup>1</sup> महत् परमव्यक्तमव्यक्ता पुरुष पर।

पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति ॥ कठोपनिषद् — 1/3/11 पर शाकरभाष्य।

किन्तु सांख्य इसे समष्टिभूति न मानकर केवल मनोवैज्ञानिक पक्ष को ही स्वीकार करता है। सृष्टि प्रक्रिया या विकासवाद की यही सबसे बड़ी भूल है। वेदान्त में महत् को वैश्वानर, हिरण्यगर्भ आदि कहा गया है। हिरण्यगर्भ — जब माया सूक्ष्मरूप से व्यक्त होती है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ है, सकल सूक्ष्म विषयों की समष्टि। वैश्वानर अर्थात् विराट रूप जब माया स्थूल रूप में अर्थात् दृश्यमान विषयों में अभिव्यक्त होती है तब ब्रह्म का अर्थ है, सभी स्थूल विषयों की समष्टि अर्थात् समस्त व्यक्त संसार।

माण्डूक्योपनिषत्<sup>1</sup> तृतीय मंत्र में स्पष्ट रूप से सांख्य के व्यष्टि व वेदान्त की समष्टि का भेद किया गया है। यद्यपि सांख्य सम्मत सृष्टि प्रक्रिया पर अनेक आक्षेप लगाये जाते हैं, किन्तु सृष्टि विकास की अनेक विशेषतायें भी बताई जा सकती हैं<sup>2</sup>—

सांख्य के मत में सृष्टि का अर्थ आविर्भाव माना गया है समस्त कार्यजाल प्रकृति में अव्यक्त रूप से स्थित है, जिनका विकास के द्वारा प्रकाशन होता है। सांख्य सिद्धान्त में विकास का क्रम एक सुनिश्चित ढंग से रखा गया है। विकास क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ता है। अत्यक्त प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धि का प्रकाशन होता है, बुद्धि अत्यन्त ही सूक्ष्म है। तत्पश्चात् अहंकार का विकास होता है जो बुद्धि

<sup>1</sup> अयमात्माब्रह्म इति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीना मूर्धाद्यगत्वमिति ? नेष दोषः । सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्य अनेनात्मना चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात् । एवञ्च सतिसर्वं प्रपञ्चोपशमेऽद्वैत सिद्धिः । सर्वभूतस्थश्चात्मैकोदृष्टः स्यात् । अन्यथा हि स्वदेह परिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यदिभिरिव दृष्टः स्यात् । तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात् । सांख्यादिदर्शनेना विशेषात् इष्यते (1) च सर्वोपनिषदा सर्वात्मैक्यत्वम् अतोयुक्तमेवास्य आध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमाभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्व वचनम् । मूर्धाति व्यपतिष्यत् इत्यादि लिंगदर्शनाच्च । विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भ—व्याकृतात्मनो उक्त चैतन्यमधुब्राह्मणे— यश्चायमस्याम्पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोः यश्चायमध्यात्मम् इत्यादि । सुषुप्ता व्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव, नर्विशेषत्वात् । एवं च सत्ये तत्सिद्धि भविष्यति—सर्वद्वैतोपशमेचाद्वैतमिति ।

— माण्डूक्योपनिषद् तृतीय मंत्र पर भाष्य

<sup>2</sup> डॉ० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 253

से स्थूल है। इस क्रम में पंचभूतों का विकास सबसे अन्त में होता है क्योंकि वे सबसे स्थूल हैं।

सांख्य के अनुसार सृष्टि और प्रलय का एक क्रम है। सृष्टि वह है जब प्रकृति का समस्त कार्यजाल पुरुष के प्रयोजन के लिए होता है तथा प्रलय प्रकृति की वह अवस्था है जब वह अपनी साम्यावस्था (स्वाभाविक) स्थिति में चली आती है।

प्रकृति को अविनाशी कहा गया है, क्योंकि प्रकृति कि जड है से समस्त विश्व का विकास होता है, किन्तु प्रकृति की सत्ता में कोई ह्रास नहीं होता है।

---

षष्ठ अध्याय

सांख्य दर्शन में द्वितत्त्ववाद का विश्लेषण

द्वैतत्ववाद (द्वैतवाद) उस तत्त्वशास्त्रीय सिद्धान्त को कहते हैं जो दो प्रकार के तत्त्वों की सत्ता में विश्वास करता है। साख्य द्वैतवाद का पोषक है। साख्यदर्शन में दो प्रकार के तत्त्वों की प्रकल्पना की गयी है वे दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। साख्य में पुरुष और प्रकृति के लक्षण स्वभावतः परस्पर प्रतिकूल हैं। प्रकृति अचेतन और पुरुष चेतन है। प्रकृति क्रियाशील होने के कारण सदैव सक्रमणशील रहती है। जबकि पुरुष निष्क्रिय होने से अकर्ता है। पुरुष बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर रहने वाला है। जबकि पुरुष के विपरीत प्रकृति, स्वतः परिणामी, सतत परिणामी अचेतन एवं अन्तर्विरोधी सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणधर्मों का पुंज है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विपरीत पुरुष निर्गुण है। प्रकृति प्रमेय, अर्थात् विषयी है। प्रकृति अन्धी है तथा पुरुष साक्षी है। दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न होते हुए भी अनादि सिद्ध स्वयम्भू एवं स्वतंत्र हैं।<sup>1</sup> प्रकृति से पुरुष का निर्माण असम्भव है। पुरुष भी प्रकृति का निर्माण करने में असमर्थ है। इस प्रकार साख्य भौतिकवाद अथवा आध्यात्मवाद का खण्डन कर द्वैतवाद का समर्थन करता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत् का मूल है तथा सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुण सृष्टि का उपादान कारण है।<sup>2</sup> त्रिगुणात्मिका प्रकृति में क्षोभ चेतन तत्त्व पुरुष के सयोग द्वारा होता है और उसकी सक्रियता निष्क्रिय पुरुष पर आरोपित हो जाती है।<sup>3</sup> फलस्वरूप प्रकृति अनेक सजातीय तथा विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाती है। इस प्रकार पुरुष से प्रकृति का सयोग निमित्त कारण है। ये क्रमशः सुखात्मक, दुःखात्मक

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका-3

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका-9

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका-20  
भवत्युदासीन ।

न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ॥

उपादानग्रहणात् ॥

तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम् । गुण कर्तृत्वे च तथा कर्तव्य



तथा मोहात्मक होते हैं तथा प्रकाश प्रवृत्ति और नियमन करते हैं।<sup>1</sup>

प्रकृति अनुभव से एक अपकर्षण है। पदार्थ—जगत् के पक्ष में यह एक प्रतिबन्धक भाव। यह उस अज्ञात तथा पदार्थ—जगत् के कल्पनात्मक कारण की संज्ञा है। यदि यथार्थ अनुभव सिद्ध है, तो प्रकृति विशुद्ध प्रमेय विषय का ऐसा अपकर्षण है जो बुद्धिगम्य नहीं है। जब प्रकृति के लिए 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो प्रकृति का उक्त स्वरूप स्वीकार कर लिया जाता है। यह केवल मात्र रिक्तता है, क्योंकि यह वस्तुओं का रूपरहित अधिष्ठान है। पदार्थ जगत् के सर्वाधिक सामान्य लक्षण प्रकृतिविषयक विचार के अन्दर संक्षिप्त रूप में आ जाते हैं शारीरिक तथा मानसिक सृष्टि का प्रत्येक भाग उस तनाव का प्रतीक है जो एक गुण और उसके विरोधी के मध्य विद्यमान है और जो क्रियाशीलता को उत्पन्न करता है। तीनों गुण समस्त सत्ता के तीन क्षणों को दर्शाते हैं ; और प्रकृति जिसे तीनों गुणों की साम्यावस्था कहा गया है समस्त जीवन का केवल ढांचा मात्र है। तीनों गुण प्रकृति के रूप हैं, धर्म नहीं। यथार्थ में जो एक भावात्मक अपकर्षण है वह, व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर एक भेदरहित बहुगुण बन जाता है जिसके अन्दर सब वस्तुओं को उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है।<sup>2</sup>

गुण जब पृथक्-पृथक् रूप में रहते हैं तो वह साम्यावस्था होती है और जब इन तीनों में परस्पर संयोग होता है तो वह वैषम्यावस्था होती है। यह दूसरी अवस्था ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करने में समर्थ होती है। साम्यावस्था मूल प्रकृति या

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-12.....प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशत्रवृत्तिनियमार्थः.....।

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 279.

प्रधान या अव्यक्त आदि कहलाती है। जबकि वैषम्यावस्था को क्षुब्धावस्था अर्थात् सृष्टि की अवस्था कहते हैं इस अवस्था में स्वभाववश ये गुण कभी अपने में ही एक दूसरे को दबाने की चेष्टा करते हैं और कभी किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए एक दूसरे का आश्रय लेते हैं।<sup>1</sup> तीनों गुण आवश्यक अवस्थाओं के उपलक्षण हैं। प्रकृति के विकास की प्रत्येक स्थिति में सर्वनिहित है—एक आदर्श अथवा आशय सत्त्व है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न रजस् और एक भौतिकता तमस् है। ये अपकर्षण नहीं वरन् आचार्य विज्ञान भिक्षु की सम्मति में निश्चित विध्यात्मक सत्ताएं हैं बिना इनके कुछ भी नहीं रह सकता। प्रकृति के अन्दर विरोधी क्षमताएं रहती हैं। इनमें केवल क्रियाशीलता की प्रवृत्ति ही नहीं है, बल्कि क्रियाशीलता का विरोध करने वाली विपरीत प्रवृत्ति भी है। डॉ० राधाकृष्णन महोदय ने तमस् को एक निरोधक शक्ति तथा क्रियाशीलता में बाधा डालने के कारण इसे क्रियाशीलता को आधार माना है। उन्होंने त्रिगुणात्मिका प्रकृति यथार्थता का नहीं बल्कि एक स्थिति का प्रतिनिधित्व करने वाला बताया है। सत्त्व, रजस और तमस् को एक ओर विरोधी स्थिति में विद्यमान मानना और दूसरी ओर पदार्थ के घटक मानना केवल तभी सम्भव है जबकि हम यह स्वीकार करें कि प्रत्येक पदार्थ जिसके अन्दर गुण हैं, एक संघर्ष है, एक अयथार्थसत्ता है जो अपने आपको अतिक्रमण करने का प्रयत्न कर रही है।<sup>2</sup>

साख्य सिद्धान्त में कारण वह सत्ता है जिसमें कार्यगुप्त रूप से विद्यमान रहता है। सत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि कारण तथा कार्य एक

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका—12 अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणा ।

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 279—280

ही पदार्थ अविकसित तथा विकासित अवस्थाएं हैं अर्थात् समस्त उत्पत्ति का विकास और समस्त विकास का विलय कारण में माना जाता है।<sup>1</sup> सांख्य अत्यन्ताभाव में विश्वास नहीं करता इसके अनुसार भूत काल और भविष्यकाल की अवस्थाओं का नाश नहीं होता। सांख्य निम्न स्तर से उच्चतमस्तर विश्व का अनुवर्तन स्वीकार करता है। पदार्थों के आविर्भाव तथा तिरोभाव की एक निश्चित अवस्था है। इस प्रकार सांख्य जगत् की प्रयोजनवादी व्याख्या करता है। जगत् प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति जगत् का कारण है। प्रत्येक वस्तु किसी उत्पादक कारण का कार्य है क्योंकि असत् से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। उत्पन्न पदार्थ पराधीन है। किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ अनेक हैं, देशकालविच्छिन्न हैं। किन्तु प्रकृति एक है, सर्वव्यापी है और नित्य है।<sup>2</sup>

बालगंगाधरतिलक महोदय हेकल के विचार उद्धृत करते हैं। जिसके अनुसार मन, अहंकार, बुद्धि और आत्मा ये सब शरीर के कर्म हैं। जैसा कि हम देखते हैं, जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड़ जाता है तो उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है और वह पागल हो जाता है। इस प्रकार सिर पर लगी चोट से मस्तिष्क का कोई अंग क्षतिग्रस्त हो जाता है तो भी स्मरणशक्ति दुष्प्रभावित होती है अर्थात् मनोधर्म भी जड़मस्तिष्क के ही गुण हैं अतः इन्हें जड़वस्तु से कभी अलग नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि मस्तिष्क के साथ-साथ मनोधर्म और आत्मा को व्यक्त पदार्थों के वर्ग में सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार जड़वाद मान ले तो एक मात्र अव्यक्त जड़

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-9

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-10

प्रकृति ही शेष बचती है। अतः सभी व्यक्त पदार्थों का निर्माण प्रकृति से हुआ है। परन्तु लोकमान्य तिलक इससे सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि ऐसा मानने पर निष्कर्ष यह निकलेगा कि मूल प्रकृति की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी है और अन्त में उसी को चैतन्य का स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यवाद के अनुसार प्रकृति के कुछ नियम हैं, जिसके आधार पर जगत् और जीव स्थित हैं। यदि एक मात्र जड की सत्ता मान ले तो न तो आत्मा अविनाशी होगा, न स्वतंत्र और तब मोक्ष की भी आवश्यकता नहीं होगी। हेकल के मत में सारी सृष्टि का मूल कारण एकमात्र जड और अव्यक्त प्रकृति ही हैं अतः इसे वे 'अद्वैत' कहते हैं, परन्तु यह जडाद्वैत होगा जो सांख्य को स्वीकार नहीं होगा।<sup>1</sup>

भगवद्गीता में प्रकृति और पुरुष को अनादि तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>2</sup> प्रकृति को समस्त कार्यकारण व्यापार और पुरुष को सुख दुःखादि सभी उपयोगों का हेतु माना गया है। क्योंकि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति को अपनी माया कहते हैं और पुरुष को अपना ही अंश मानते हैं।<sup>3</sup> क्योंकि यह उपर्युक्त दैवी माया अर्थात् मुझ व्यापक ईश्वर निज शक्ति मेरी त्रिगुणमयी माया दुस्तर है। जीवलोक में अर्थात् ससार में, जो जीवरूप शक्ति भोक्ता, कर्ता इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है, वह मुझ परमात्मा का ही सनातन अंश है, अर्थात् अग, भग, एक देश जो भी कुछ कहो, एक ही अभिप्राय है।<sup>4</sup> इस प्रकार गीता सांख्य पद को स्वीकार करती है, परन्तु उन्हें

<sup>1</sup> बालगंगाधर तिलक गीता रहस्य, भूमिका, पृष्ठ 161-162

<sup>2</sup> प्रकृति पुरुष चैव विद्वयनादी उभावपि।

विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्। —भगवद्गीता, 13/19

<sup>3</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 7/14 व 15/7

<sup>4</sup> शाकरभाष्य-7/14 व 15/7

अर्थ अपने अनुसार प्रदान करती है। डॉ० राधाकृष्णन के मत में सांख्यमत आधुनिक भौतिक सिद्धान्त से कुछ साम्य रखता है। दोनों विश्व के मूल कारण के रूप में एक आद्यद्रव्य को मानते हैं और उसकी यथार्थ सत्ता पर बल देते हैं। इसे वे नित्य, अविनाशी व सर्वव्यापी मानते हैं, किन्तु प्रकृति की तुलना विशुद्ध एवं सरल भौतिक द्रव्य में नहीं की जा सकती। भौतिकवादी मत के विपरीत सांख्य मत में प्रकृति का विकास एक प्रयोजन को लेकर होता है। प्रकृति न तो मात्र भौतिक द्रव्य सत्ता है और न चेतनादिविष्ट सत्ता है। प्रकृति से केवल पंचमहाभूत ही नहीं, अपितु मानसिक तत्त्वों की भी उत्पत्ति होती है। यह समस्त प्रमेय विषयक जीवन की केन्द्रबिन्दु है। सांख्य मत का आधार विज्ञान नहीं आध्यात्म है। यथार्थ तत्त्व को उसकी पूर्णता के साथ अपरिवर्तनशील प्रमाता (विषयी) और परिवर्तनशील प्रमेय (विषय) के रूप में पृथक् किया गया है, तथा प्रकृति परिणमनशील जगत् का आधार है। यह अविभ्रात क्रियाशील जगत् के तनाव का प्रतीक है। यह बिना चेतन के बिना किसी पूर्व निर्धारित योजना के बराबर क्रियाशील रहती है। यह ऐसे लक्ष्य के प्रति क्रियाशील है, जिसे यह समझती नहीं है।<sup>1</sup>

पुरुष निर्गुण, असह्य अविषय, चेतन एवं अपिरणामी होने से व्यक्त अव्यक्त दोनों से विपरीत है। किंतु अकारण निरवयव तथा विभु होने से यह व्यक्त के विपरीत तथा प्रधान के समान है। आत्मा रूप चैतन्य शरीर नहीं है, न ही चैतन्य पदार्थों से उत्पन्न होने वाली वस्तु है। चूंकि यह चैतन्य उसके अन्दर अलग-अलग विद्यमान

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2 पृ० 226-227

नहीं है। अतः यह उन सबमें एक साथ रह भी नहीं सकती।<sup>1</sup> आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वयं द्रष्टा न होकर दर्शन के साधन हैं।<sup>2</sup> हमारे समस्त अनुभव आत्मा के द्वारा ही एक ईकाई के रूप में व्यवस्थित होते हैं। यह प्रकृति और शरीर से भिन्न है।<sup>3</sup> यह अपरिवर्तनशील सत्ता है, जो कि सभी प्रकार के विचारों और संवेदनाओं को प्रकाशित करती है। क्योंकि बिना एक स्थायी चेतनतत्त्व के सुख या दुःख रूपी विविध अवस्थाओं का अनुभव संभव नहीं होगा। 'पूर्वभावित्वे द्वेयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः इत्यादि सांख्यसूत्र में वर्णित है।<sup>4</sup> आत्मा सुषुप्ति की अवस्था में भी विद्यमान रहता है। साथ ही जाग्रत और स्वप्नावस्था में भी यह वर्तमान रहता है, जो भी परिवर्तन होते हैं, दिखाई देते हैं। वे बुद्धि के अन्तर्गत आते हैं। उनका आत्मरूप पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं है। आचार्य विज्ञानभिक्षु पुनः कहते हैं कि सांख्य के पुरुष का न आदि है न अंत। अतः वह अजन्मा है, निर्गुण है, सूक्ष्म सर्वव्यापी नित्यद्रव्य इन्द्रियातीत, अनुभवातीत देश काल और कारण-कार्य शृंखला के परे चिद्रूप है। पुरुष स्थायी अखण्ड और पूर्व सत्ता है। जब पुरुष शारीरिक सीमाओं से मुक्त होता है तो इसे परिवर्तनों का बोध नहीं रहता, बल्कि तब यह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होता है। पुरुष प्रकृति से सम्बद्ध नहीं उदासनी निर्लिप्त निष्क्रिय एक मात्र साक्षी रूप दर्शक है। यद्यपि पुरुष विक्षुब्ध प्रतीत होता है, लेकिन इसका कारण मन है। पुरुष

<sup>1</sup> न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥ प्रपंचमरणाद्यभावश्च ॥

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ॥

(सांख्यसूत्र-3/20, 21, 5/1)

<sup>2</sup> सांख्यसूत्र 2/29

<sup>3</sup> अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥ देहादिव्यतिरिक्तोऽसौवैचित्र्यात् ॥

—सांख्यसूत्र 6/1,2

<sup>4</sup> योगसूत्र, 4/18 व सांख्यसूत्र 1/46 तथा—सांख्य प्रवचन भाष्य-1/75.

और मन का संबंध अस्थायी है। इस संबंध का पुरुष पर दीर्घकालिक या स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि यह साहचर्य यथार्थ न होने के कारण कोई प्रभाव नहीं छोड़ता है। पुरुष जो निष्क्रिय रूप से निर्मित है, निर्लिप्त है, कर्ता प्रतीत होता है किन्तु ऐसा त्रैगुण्यक प्रकृति के प्रमाण के कारण अनुभव होता है।<sup>1</sup>

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार<sup>2</sup> पुरुष का अस्तित्व मानसिक अवस्थाओं की सीमा के परे और उससे पृथक् है पुरुष न तो अनुभवगम्य है और न ही लौकिक तत्त्वविज्ञान के विचार के अन्तर्गत आता है। निषेधात्मक पद्धति के आधार पर पुरुष का स्वरूप नित्य और अखण्ड है जो परिणामी नहीं है अर्थात् विविधता की छाया से भी रहित है और यह सदैव अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित रहता है। यहां साक्षी रूप में द्रष्टा है। जिस पुरुष के लिए प्रकृति की उपस्थिति है, कभी भी रंगमंच पर नहीं आता है, यद्यपि समस्त अनुभव उसकी ओर संकेत करता है। जीवन प्रकृति की उपाधि युक्त है अतः वह विशुद्ध पुरुष नहीं है। प्रत्येक आत्मा जो हमारे ज्ञान का विषय बनती है, शरीर युक्त आत्मा है। यदि हम समस्त अनुभाविक तथ्यों को मानें तो यह जो निर्गुण, आत्मा, जिसमें से समस्त वस्तु विषय निकाल दिये जाएँ मात्र एक कल्पित रचना होगी। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सांख्य जिन तर्कों को प्रस्तुत करता है, वे अनुभाविक व्यक्तियों अर्थात् जीवात्माओं के अस्तित्व ही सिद्ध करती हैं। सांख्यदर्शन में पुरुष के अनेकत्व में विश्वास किया जाता है। इसके अनुसार संसार में चैतन्य युक्त प्राणी अनेक हैं और

<sup>1</sup> सर्वसिद्धांत संग्रहः ॥ १ प्रकृतेः कार्यनित्यैकं नित्यैका प्रकृतिर्जडा। प्रकृतेस्त्रिगुणावेशादुदासीनाऽपिकर्तृवत् ॥

<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 277

इनमें से हर कोई, विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ प्रक्रियाओं को अपने स्वतंत्र अनुभव द्वारा अपनी ही विधि से समझता है। यहाँ विविध लोगों के दृष्टिकोण में भेद का आधार प्रकृति के व्यापार नहीं, अपितु चैतन्य स्वरूप द्रष्टा का भिन्न-भिन्न होता है। जिनकी इन्द्रियाँ और कर्म ही नहीं अपितु वे जन्म और मृत्यु भी अलग-अलग प्राप्त करते हैं।<sup>1</sup> सांख्यमत में मोक्ष किसी एक निरपेक्षसत्ता में तादात्म्य बनाना नहीं, बल्कि प्रकृति से अलग हो जाना है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में आत्मा का मूलदर्शक रहना है। जिनके साथ ये पुरुष अस्थयी रूप से सम्बद्ध समझ लिए थे। अतः आचार्य भिक्षु का मत है कि धर्मशाखाओं अथवा दार्शनिक मतों में जिस एकेश्वरवाद का समर्थन किया गया है वे आत्माओं के तांत्रिक गुणों के परस्पराभेद को प्रतिपादित करते हैं, किसी अखण्डता का नहीं।<sup>2</sup> जीवात्मा इन्द्रियों के संयोग तथा शरीर द्वारा सीमित होने से पुरुष से पृथक् रूप में जाना जाता है। आचार्य भिक्षु के अनुसार पुरुष अपने-आप में जीवन नहीं है अपितु जब पुरुष अहंकार युक्त होता है तो जीव कहलाता है।<sup>3</sup>

डॉ० राधाकृष्णन्<sup>4</sup> के अनुसार सांख्य प्रतिपादित पुरुष प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। हम इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार के विशिष्ट लक्षणों, जैसे व्यक्तित्व अथवा सृजनशक्ति आदि का प्रयोग नहीं कर सकते। आत्मा सब प्रकार के गुणों से रहित है, अखण्ड है अनीश्वर है, अचल है, सर्वथा निष्क्रिय धीर है, सुख दुःख तथा अन्य किसी प्रकार की भावना से अप्रभावित रहती है। समस्त परिवर्तन तथा लक्षण प्रकृति

<sup>1</sup> सांख्यसूत्र-6/45, तथा 1/46, 1/50.

<sup>2</sup> नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तदभेदप्रतीतेः सांख्यसूत्र 5/61 व आत्मनामभेदे लिङ्गबाधामुक्तम्। आत्मैवेदं सर्वम्, (छान्दोग्योपनिषद्) (7/25/2)

<sup>3</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्यप्रवचन भाष्य-6/63.

<sup>4</sup> डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 266.



से सम्बद्ध है। पुरुषों के अन्दर भेदप्रतिपादित करने का कोई आधार प्रतीत नहीं होता। यदि प्रत्येक पुरुष के अन्दर एक ही समान चैतन्य तथा सर्वव्यापकता के लक्षण है, एक दूसरे के अन्दर न्यूनातिन्यून भेद भी नहीं है, क्योंकि वे सब प्रकार की विविधता से उन्मुक्त है, तो पुरुषों के अनेकत्व की कल्पना करने का कोई भी कारण नहीं रहता। बिना भेद के बहुत्व असम्भव है। डॉ० राधाकृष्णन महोदय<sup>1</sup> आगे कहते हैं वस्तुओं का भोग करने वाला एक अवश्य होना चाहिए, वह यह दर्शाता है कि एक सुखोपभोक्ता आत्मा है, निष्क्रिय पुरुष नहीं है। रूप, जन्म, मृत्यु उद्भवस्थान तथा भाग्यसम्पद के पृथक-पृथक विवरण हमें केवल अनुभूति सिद्ध ऐहलौकिक जीवों के बहुत्व की ओर ले जाते हैं। प्रकृति के विषय में जो सांख्य का मत है कि प्रकृति पुरुषों के भोग तथा मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है इसके अनुसार पुरुष बहुत्व आवश्यक है। यदि पुरुष केवल एक होता तो बुद्धि भी एक होती। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि विशुद्ध पुरुष अमर तथा उदासीन है, उसे किसी विषय की कामना नहीं, प्रकृति का नाटक सदा स्वतंत्र पुरुषों के लिए नहीं है बल्कि केवल प्रतिबिम्बित अहंभावरूप जीवात्माओं के लिए है। अधीक्षण तथा मोक्ष के लिए उत्कण्ठा उन आत्माओं के लिए ही ठीक है जो भेद न करने के कारण दुःख पा रही है उन पुरुष को नहीं जिसे हम नेति नेति के मार्ग से प्राप्त करते हैं। पुरुष पूर्ण आत्मा का नाम है जिसे मनुष्य देहस्थ आत्मा के साथ न मिला देना चाहिये।

आचार्य गौड़पाद एकत्व को पुरुष परक मानते हैं।<sup>2</sup> यद्यपि पुराणेतिहास में

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 278.

<sup>2</sup> आचार्य गौड़पाद, सांख्यकारिका-11 पर भाष्य

पुरुषैकत्व एवं पुरुष नानात्व दोनों के प्रमाण मिलते हैं, हिरण्यगर्भ सिद्धान्त पुरुषैकत्व का प्रतिपादन करता है। पुरुष को जातिपरक मानकर तथा उपाधियों के द्वारा अद्वैत श्रुति से पुरुष नानात्व को अविरुद्ध माना गया है। विवेक ज्ञान जगत् प्रवाह की नित्यता जन्मादि युक्तता को पुरुष बहुत्व का प्रतिपादक माना गया है। पुरुष एकत्व अथवा नानात्व के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं प्राप्त होती है।

प्रकृति वह भौतिक द्रव्य है जिसमें से यह जगत् विकसित होता है। सांख्यदर्शन किसी ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता। पुरुष की सन्निधि मात्र से किसी तरह प्रकृति की साम्यावस्था का भंग उससे परिणाम द्वारा जगत् की सृष्टि होती है। प्रकृति और पुरुष का यह संयोग एक विलक्षण प्रकार का सम्बन्ध है। जब तक दोनों का संयोग नहीं होता है तबतक सृष्टि सम्भव नहीं है। क्योंकि न तो अकेले पुरुष जो निष्क्रिय है, और नहीं अकेले प्रकृति जो कि जड़ है द्वारा सृष्टि सम्भव है। सांख्यकारिका में प्रकृति एवं पुरुष का सम्बन्ध अनेक उपमाओं द्वारा बनाया गया है। जिसमें लंगड़े एवं अन्धे का सम्बन्ध यहाँ निष्क्रिय होने से पुरुष लंगड़ा अर्थात् गतिविहीन है और प्रकृति जड़ होने से पुरुष लंगड़ा अर्थात् गतिविहीन है और प्रकृति जड़ होने के कारण अन्धी है। दोनों के संयोग से ही सृष्टिकार्य संभव होता है। प्रकृति पुरुष संयोग का अन्य दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए ज्ञान-शून्य अचेतन दूध का गाय के स्तनों में प्रवाहित होना स्वाभाविक है। उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिए अचेतन प्रकृति की सृष्टि योजना अत्यन्त स्वाभाविक है।<sup>1</sup> सांख्यमतानुसार जिस प्रकार अयस्ककान्त मणि चुम्बक-पत्थर स्वयं

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्णः सांख्यकारिका-57.

गतिमान हुए बिना ही लोहे में गति पैदा कर देती है उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष प्रकृति को सृष्टि करने हेतु प्रेरित करता है। साख्यकारिकाकार प्रधानपुरुष का सयोग अर्थहेतुक या प्रयोजन रूप मानते हैं—वत्सविवृद्धिनिमित्त क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरसज्ञस्या' पुरुष विमोक्षनिमित्त तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य।<sup>1</sup> अर्थात् जैसे बछड़े के पोषण एवं वृद्धि के लिए अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति होती है वैसे ही प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए स्वतः ही होती है। ईश्वर जैसी परमसत्ता प्रकृति ही प्रवृत्ति का नियामक नहीं है यह कहा जाए तो उसे केवल सुखी प्राणियों की सृष्टि करनी चाहिये। यदि जीवकृत विविध कर्म ही जीव के लिए शुभाशुभ फल के जनक है तो यहां ईश्वर की क्या आवश्यकता है।<sup>2</sup> जीवकृत शुभाशुभ कर्म—संस्कार उसके अगले जन्म के निर्धारक है। कर्म अविद्यावश किए जाते हैं। जिन पुरुषों में अविद्या विद्यमान है उन पुरुषों के लिए प्रकृति स्वतः क्रियाशील होती है और ऐसे पुरुषों का प्रकृति के साथ तादाम्यभाव भी है। उक्त विवेचन का यही अभिप्राय है कि चेतन तत्त्व के बिना भी प्रकृति—पुरुष सयोग के कारण होने वाली प्रकृति की सृष्टि विषयक प्रवृत्ति स्वतः होती है। माठरवृत्तिकार लिखते हैं —

“तथा प्रधानपुरुषयोरप्यर्थहेतुकः सम्बन्धः सयोगः।<sup>3</sup>

प्रकृति पुरुष के मध्य वही सम्बन्ध है जो राजा और उसके मंत्री के बीच होता है। राजा अपने मंत्री को इस लिए चाहता है क्योंकि प्रेषणादि कार्य वही सम्पन्न करता है और मंत्री, राजा को इसलिए मानता है जिससे उसकी आजीविका बनी रहे।<sup>4</sup>

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका—57

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी—साख्यकारिका—57

<sup>3</sup> साख्यकारिका 21, पर माठरवृत्ति

<sup>4</sup> तथा राजापुरुषेण सयुज्यते प्रेषण मे करिष्यति इति पुरुषाऽपि राज्ञासयुज्यते वृत्ति मे दास्यतीति एव तावद्राजपुरुषयोरर्थहेतुक सम्बन्धः। (माठरवृत्ति, साख्यकारिका—21 पर)

अनेकशः प्रकृति-पुरुष संयोग को एक आकर्षण के रूप में भी परिभाषित किया गया है। सांख्यसूत्रकार<sup>1</sup> के अनुसार पुरुष की करणता अर्थात् अधिष्ठातृत्व प्रकृति के सन्निधान के कारण है। सान्निध्य, संकल्प प्रेरणा और प्रवर्तन आदि पर्यायवाची शब्द हैं। माटरवृत्ति, गौड़पादभाष्य में भी इसी प्रकार उदाहरण दिया गया है—स्त्रीपुरुषस्य-संयोगात्पुत्रः सम्भवति। एवं प्रधान पुरुष संयोगात् सर्गोत्पत्ति। प्रकृति पुरुष की परस्पर सापेक्षता एवं आकर्षण का भाव यह स्पष्ट करता है कि अचेतन प्रकृति और पुरुष द्वारा जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। किसी परमसत्ता ईश्वरादि के संकल्प या अधिष्ठातृत्व की आवश्यकता नहीं है। कूर्म पुराण में इस प्रकार कहा गया है—

इत्येष प्राकृतः सर्गः संक्षेपात् कथितो मया।

अबुद्धिपूर्वकस्त्वेष ब्राह्मी सृष्टिं निबोधात्।<sup>2</sup>

सांख्य में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि समस्त कारण समूह अचेतन त्रिगुण संघात् एवं परार्थ है। पर पुरुष है। अतः मन आत्मा से नितान्त भिन्न है। आत्मा विभु एवं चेतन है, जबकि मन अणु परिणाम एवं अचेतन है। आत्मा कूटस्थ नित्य एवं सक्रिय है। आत्मा द्रव्य है, गुण पर्वस्वरूप प्रकृति महत् अहं आदि विशेषांत दृश्य है। आत्मा से इनका अभेद है; पंचपर्वाविद्या है जो जात्यायुर्भोगानिमित्तक कर्माशय मूल है। निष्कर्षतः परस्पर प्रतीप स्वभाव आत्मा एवं मन आदि का अभेद अज्ञान विजृम्भित है। महत् से अविशेष सूक्ष्म शरीर है। विशेष से स्थूल शरीर है। सूक्ष्म शरीर

<sup>1</sup> तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्, सांख्यसूत्र-1/96.

<sup>2</sup> कूर्मपुराण, 1/4266

जन्म-जन्मान्तर में एक ही रहता है। यही सभी कार्य संस्कारों का अधिष्ठान है। भावादि वासित सूक्ष्म विग्रह, अविद्याहेतुक, प्रकृति-पुरुष संयोग के सामानान्तर उत्पन्न होता है। अतः पूर्वोत्पन्न है। आत्यन्तिक लय पर्यन्त रहने से 'नियत' है। अबाधित गति होने से अशक्त तथा स्थूल शरीर के बिना भोगासक्त होने से निरुपभोग है। प्रकृति के विमुक्त या वैस्यरूप्य के भोग के अनुसार<sup>1</sup> विभिन्न रूपों को धारण करने वाला लिंग शरीर अनेक भूमिकाओं में कार्य करने वाले नट के समान माना गया है। इन्हीं रूपों को स्थूलशरीर कहा जाता है। पुरुष के रूप में 'पुरिशेते' इस यौगिक अर्थ में ही इसे ग्रहण किया गया है। ऐसे स्थलों में भी इसे आत्मा से भिन्न माना गया है।<sup>2</sup> यह सच्चित् पुरुष से व्यतिरिक्त हैं, क्योंकि पुरुष विभु है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस संस्करण की उपमा 'जलूथा' से दी गयी है। कर्मसिद्धान्त भी सत्कार्यवाद का ही समर्थक है।

सत्कार्यवादी सांख्यमत में दुःखनाश का अर्थ है दुःख का अभिभाव या तिरोधान होना। क्योंकि सांख्य के अनुसार दुःख रजोगुण का परिणाम विशेष है इसका सर्वथा नाश नहीं होता, अपितु दुःख अपने स्थूल आकार से सूक्ष्माकार में परिणत होकर सदा के लिए शान्त हो जाता है। यह उसकी वर्तमानता से अतीतावस्था है। क्योंकि ध्वंस एवं प्रागभाव का क्रमशः अतीत एवं अनागत अवस्था ही स्वरूप होता है। यह गीता भी मानती है कि जो नहीं है, वह कभी नहीं हो सकता ; और जो है, उसका कभी भी अभाव नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी लोगों ने सत् एवं असत् दोनों वस्तुओं का अन्त

<sup>1</sup> व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥ -सांख्यसूत्र, 3/10

<sup>2</sup> सांख्यसूत्र 3/11 से 13

जान लिया है।<sup>1</sup>

प्रकृति के सृष्टि विकास में एक आकर्षण सौन्दर्य होने के साथ एक ऐसी योजना भी निहित है जिसका एक धार्मिक प्रयोजन स्पष्ट है।<sup>2</sup> प्रकृति से एक ऐसे जगत् का विकास होता है कि जिसमें विनाश भी अन्तर्निहित है और जिसका उद्देश्य पुरुष को जागृत करना और विवेक ज्ञान की प्राप्ति कराना है। प्रकृति के क्रिया कलाप एक ऐसे पुरुष के लिए होते हैं जो निष्क्रिय है और जो अपने सम्मुख होने वाली इन सब क्रियाओं को देखती है। यद्यपि इससे प्रभावित नहीं होती है। इस प्रकार पुरुष की सेवा ही प्रकृति का लक्ष्य है।

यद्यपि प्रकृति को स्वयं इस लक्ष्य का ज्ञान नहीं रहता। यहां सांख्य चमत्कारवाद का निषेध कर एक अन्तर्निहित उद्देश्यवाद को स्वीकार करती है। यह क्रिया कलाप यंत्रवत् होने पर भी अपने विकास योजना के आधार पर एक विलक्षण मेधावी सत्ता अर्थात् ईश्वर की ओर संकेत करता है। लेकिन सांख्यमत में प्रकृति का क्रियाकलाप किसी सचेतन चिंतन का परिणाम नहीं है।<sup>3</sup> विकास की प्रथम अवस्था में प्रकृति निष्क्रिय रहती है और असंख्य पुरुष भी निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। लेकिन ये निश्चेष्ट पुरुष प्रकृति पर एक यांत्रिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, फलस्वरूप प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, जिससे एक ऐसी गति पैदा होती है, जिसके कारण विकास यात्रा शुरू होती है। जिसका परिणाम अन्ततः ह्रास और विनाश के रूप में होता है। यह प्रक्रिया का पहला और अंतिम कारण पुरुष ही है। किन्तु

<sup>1</sup> नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः। उभयोऽपि द्रष्टोऽन्तस्त्वनलयोस्तत्त्व दर्शिभिः। श्रीमद्भगवद्गीता

<sup>2</sup> सांख्यसूत्र-2/1 और 3/58.

<sup>3</sup> सांख्यसूत्र-3/61.

पुरुष की कारणता यंत्रवत् है जो किसी इच्छा का परिणाम नहीं अपितु सानिध्य के कारण है। जिसमें एक विशेष प्रकार का आकर्षण है।<sup>1</sup> यहाँ जब तक प्रकृति और पुरुष के बीच कल्पित सम्बन्ध रहता है तभी तक प्रकृति पुरुष के प्रति कार्य करती है। जब पुरुष विकास और विलय को प्राप्त होने वाला प्राकृतिक जगत् से अपने भेद को पहचान लेता है तो प्रकृति उसके प्रति अपना व्यापार बन्द कर देती है।<sup>2</sup>

इस प्रकार प्रकृति के विकास का नैमित्तिक कारण केवल पुरुषों की उपस्थिति ही नहीं है क्योंकि वह तो निरन्तर बनी रहती है। बल्कि उसका अपने और प्रकृति के भेद को न जान पाना है। सांख्यमत में अविवेक को पुरुष तथा प्रकृति के संयोग का कारण माना गया है, अनादि रूप अविवेक प्रलयकाल में भी रहता है, यद्यपि तब पुरुष और प्रकृति का संयोग नहीं रहता। यह संयोग यथार्थ नहीं क्योंकि इससे पुरुष के अन्दर कोई नया गुण नहीं उत्पन्न होता है। फिर भी प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को योग्य और भोक्ता के सम्बन्ध को माना जाता है। आचार्य विज्ञान भिक्षु के मत में यदि सम्बन्ध नित्य है तो ज्ञान से इसका अन्त नहीं हो सकता और यदि यह अनित्य है तो भी यह संयोग नहीं कहा जाएगा।<sup>3</sup>

विषयी और विषय एकत्व की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि ये भिन्न हैं फिर भी एक इकाई के अन्तर्गत ही हैं क्योंकि एक चैतन्य विषय का चैतन्य है और विषय चैतन्य का ही विषय है। अपने को पदार्थ जगत् से भिन्न करने और उससे सम्बद्ध करने में ही आत्मा अर्थात् विषयी को जान सकते हैं अन्यथा नहीं। अतः विषयी और

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-57, सांख्यसूत्र-1/96

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-6/12 से 15.

<sup>3</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्यप्रवचन भाष्य-1/19.

विषय की संबंधविहीनता की स्थिति में एक दूसरे की ओर संक्रमण सम्भव नहीं है। दोनों पक्षों की एकता उनके भेद की पूर्वकल्पना है। भेद का कारण अज्ञान अर्थात् अविद्या है। जिसके कारण हम अनुभव के स्वरूप और उसकी व्यवस्थाओं पर विचार नहीं कर पाते। और हम विषयी व विषय के माध्यम से परमतत्त्व को जानने में असमर्थ हो जाते हैं।

प्रकृति के विकास में सर्वप्रथम उद्भूत पदार्थ महत् है जो सकल विश्व का कारण है (सांख्य का महत् विश्वीय पक्ष को दर्शाता है और इसका पर्यायवाची 'बुद्धि' मनोवैज्ञानिक पक्ष है, जो प्रत्येक व्यक्ति में रहता है किन्तु सांख्य मत में इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष का ही स्वीकार किया गया है। क्योंकि इसका बुद्धि और उसके गुणों—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, और ऐश्वर्य व इसके विपरीत, में साम्य देखने से भी मनोवैज्ञानिक अर्थ की पुष्टि होती है, लेकिन बुद्धि की जो उपलब्धियाँ महत् ब्रह्म आदि मिलते हैं। उससे विश्व सम्बन्धी अर्थ ही किया गया है।<sup>1</sup> बुद्धि प्रकृति की कारणावस्था में बीजशक्ति के रूप में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। यह अव्यक्तावस्था है। जब यह कार्यावस्था से परिवर्तित होती है तो यह बुद्धि कहलाती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार यह कभी भी असफल न होने वाली और संस्कारों को धारण करने वाली है।<sup>2</sup> प्रकृति जड़ है और एक है किन्तु पुरुष अनेक है। फिर पुरुष संसर्ग के पश्चात् प्रकृति से उत्पन्न महत् का क्या स्वरूप है। भिन्न भिन्न पुरुषों के आधार पर प्रकृति भी विकास क्रम की योजना में कैसे सप्रयोजन में

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिकंख्यकारिका 22—23 परवर्ती वेदान्त में 'बुद्धि' का समष्टि रूप में 'हिरण्यगर्भ' की उपाधि करके लिया गया है। डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 231

<sup>2</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचनभाष्य—2/41 से 42.



एकरूप हो सकती है। अतः पुरुष बहुत्व जीवतत्त्व की ओर तथा महत् प्रकृति विश्वात्मा रूप की ओर और निष्क्रिय चेतन पुरुष एकतत्त्वारिका की तरफ सकेत करता है। क्योंकि सांख्यकारिका में बुद्धि के जो व्यापार बताये गये हैं, वे अहंकार, मन इन्द्रिय और ज्ञेय विषय के साथ सम्पन्न होते हैं।<sup>1</sup> जबकि सांख्यमत में जब प्रथम विकास अवस्था आती है, तो एकमात्र बुद्धि (महत्) ही होती है अन्य कुछ नहीं।<sup>2</sup> अतः यहाँ महत् (बुद्धि) प्रकृति को विश्वीय रूप में ग्रहण करता है जो विषय-विषयी का आधार है। विकासक्रम में बुद्धि के बाद उत्पन्न होने वाला पदार्थ अहंकार है यहाँ पर भी विश्व सम्बन्धी और मनोवैज्ञानिक पक्षों में भेद है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहम् का भाव अनहं (विषय) के बिना असंभव है। अतः एक विश्वात्मक अहंकार को स्वीकार करना पड़ेगा, जिसमें से व्यक्ति रूप विषय और विषयी उत्पन्न होते हैं। अहंकार को भौतिक सामग्री के रूप में द्रव्य माना गया है क्योंकि यह अन्य द्रव्यों का उपादान कारण है। आचार्यविज्ञानभिक्षु के अनुसार तत्त्वों तथा अन्य सबकी रचना के पूर्व अभिमान कारण है। आचार्यविज्ञानभिक्षु के अनुसार तत्त्वों तथा अन्य सबकी रचना के पूर्व अभिमान का अस्तित्व है और इस प्रकार इसे सृष्टि का कारण कहा गया है। जहाँ बुद्धि अपने व्यापार में ज्ञानविषयक है वहाँ अहंकार क्रियात्मक है। अहंकार वह नहीं है जो सार्वभौम चैतन्य को व्यक्तित्व का रूप देता है क्योंकि सांख्य के अनुसार व्यक्तित्व पहले ही विद्यमान रहता है बल्कि बाह्य जगत् से जो सस्कार आते हैं अहंकार उन्हें व्यक्तित्व प्रदान करता है।<sup>3</sup>

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका-23

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका-22,

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका-24, आचार्यविज्ञानभिक्षु सांख्यप्रवचन भाष्य 1/63 सांख्यसूत्र-6/54

वस्तुतः साख्य का प्रमुख दोष उसका पुरुष और प्रकृति के द्वैत को मानना है। द्वैत अर्थात् पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध। जैसा कि साख्य की सृष्टि प्रक्रिया प्रकृति पुरुष के सयोग पर ही निर्भर है, किंतु पुरुष और प्रकृति के सयोग की व्याख्या करना साख्य की प्रमुख समस्या हो जाती है। यदि पुरुष और प्रकृति दो स्वतंत्र और निरपेक्ष तत्त्व हैं तो उनका किसी प्रकार सयोग नहीं हो सकता। जब दो परस्पर विरुद्धधर्मी निरपेक्ष एवं स्वतंत्र सत्ताओं का सयोग असम्भव है तो किसी तीसरे तत्त्व की आवश्यकता पड़ेगी। किंतु साख्यदर्शन में दोनों में सम्बन्ध स्थापित कराने वाला कोई तृतीय तत्त्व स्वीकार ही नहीं किया जाता है, अतः यह समस्या और भी विकट हो जाती है। इन दो स्वतंत्र और निरपेक्ष सत्ताओं में सम्बन्ध स्थापित कराने के लिए, जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है, साख्य विभिन्न उपमाओं की सहायता लेता है किन्तु ये उपमाएँ समस्या का समाधान नहीं कर पाती। पगु-अन्ध-न्याय' में लगडा और अन्धा दोनों चेतन व्यक्ति हैं, और उन दोनों का लक्ष्य भी एक है जिसके लिए वे सहयोग करते हैं। किन्तु पुरुष और प्रकृति में पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। दोनों भिन्न स्तरीय हैं। अतः दोनों का कोई सामान्य प्रयोजन असम्भव है जिसके लिए वे सहयोग करें। लगडा वाणी आदि से अन्धे को स्वकार्य में प्रवृत्त करता है, किन्तु निष्क्रिय पुरुष द्वारा कोई भी प्रवृत्ति जनक व्यवहार सम्भव नहीं है।<sup>1</sup> अतः पगु अन्धन्याय पुरुष प्रकृति के सयोग की तर्कसंगत व्याख्या नहीं हो पाती।

पगु -अन्ध न्याय' के दृष्टान्त उचित व्याख्या न कर पाने पर साख्य लोहे और

<sup>1</sup> प्रधानस्य स्वतंत्रस्य प्रवृत्तभ्युपगमात् पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात् पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीन पुरुष प्रधानं प्रवर्तयेत्। पङ्गुरपि ह्यन्ध पुरुष वागादिभिः प्रवर्तयति नैव पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च।

चुम्बक की उपमा द्वारा पुरुष प्रकृति के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है किन्तु चुम्बक द्वारा लोहे को खींचने की उपमा भी पुरुष-प्रकृति सम्बन्ध की व्याख्या नहीं कर पाती। यहाँ चुम्बक और लोहा दोनों अचेतन हैं और उनकी सन्निधि भी अनित्य है। किन्तु पुरुष और प्रकृति में पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। अनित्य सामीप्य वाले लोहे चुम्बक का व्यापार तो अनित्य सन्निधि ही है। और उसको परिमार्जन-सीधा रखना आदि की अपेक्षा होने से 'पुरुषाश्मवत्' (पुरुष और अश्म के समान) यह समदृष्टान्त का उपन्यास नहीं है। उसी प्रकार प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन है और उन दोनों का सम्बन्ध कराने वाला तीसरा कोई नहीं है, अतः दोनों में सम्बन्ध स्थापित कराने वाले तीसरे तत्त्व के अभाव में उनमें कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।<sup>1</sup> यदि पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध को किसी प्रकार मान लिया जाये तो समस्या और जटिल हो जाती है। पुरुष की निष्क्रियता और प्रकृति की जड़ता के कारण उनका संयोग शाश्वत बना रहेगा। इस कारण सृष्टि-प्रक्रिया शाश्वत हो जाएगी, कभी भी प्रलय की अवस्था नहीं आयेगी, परिणामतः प्रकृति की अवधारणा, जो तीनों गुणों की साम्यवस्था है, असिद्ध हो जाएगी।

इसी प्रकार सांख्य द्वारा प्रस्तुत की गयी उपमाएं-दुग्धवत्, अम्बुवत् आदि अचेतन प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति को सिद्ध करने के लिए अनुपयुक्त हैं। आचार्य शंकर के अनुसार<sup>2</sup> यह कथन ठीक नहीं क्योंकि उन-दूध और जल में भी चेतन से

<sup>1</sup> नाऽप्ययस्कान्तवत् संनिधिमन्त्रेण प्रवर्तयेत्, संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वेन प्रवृत्तित्यत्वप्रसङ्गात्। अयस्कान्तस्य त्व नित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः परिमार्जनाद्यपेक्षा चाऽस्याऽस्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति। तथा प्रधानस्याऽचैतन्यात् पुरुषस्य चौदासीन्यात् तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात् संबन्धानुपपत्तिः योग्यतानिमित्ते च सम्बन्धे योग्यतानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः।

—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 2/2/6

<sup>2</sup> ब्रह्मसूत्र-2/2/3,4,5 पर शांकर भाष्य, उद्धृत राममूर्तिपाठक भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृ० 22-23

अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्ति होती है। गाय के धन से बछड़े की शारिरिक पुष्टि के लिए दुग्ध के बहने के कई हेतु हैं— गाय का बछड़े के प्रति वात्सल्य प्रेमभाव, बछड़े द्वारा उसके थन का चूसना, गाय द्वारा स्वेच्छया दूध को प्रवाहित होने देना आदि। अचेतन प्रकृति में निष्क्रिय पुरुष के लिए ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई देता है। जल भी स्वभावतः निम्न भूमि की ओर प्रवाहित होता है, उच्चोच्च भूमि की ओर नहीं। इस प्रकार प्रवृत्ति के लिए चैतन्य की अपेक्षा सर्वत्र दिखाई देती है।

पुनः तृणादिवत् उपमा भी प्रकृति की प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं कर पाती। शंकराचार्य के अनुसार यह उपमा भी असंगत है, क्योंकि सर्वत्र त्रिणादि का परिणाम दूध नहीं दिखाई देता। यदि घास स्वतः दूध के रूप में परिणत होती तो उसका कोई अपवाद नहीं होता घास दूध के रूप में तभी परिणत होती है जब यह गाय के द्वारा चबाई जाती है, किन्तु नष्ट हुई घास का अथवा बैल द्वारा चबाई गयी घास का परिणाम दूध नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार प्रधान (प्रकृति) भी स्वभावतः परिणमित नहीं होती।

अन्ततः इन सब आशंकाओं व आक्षेपों से बचने के लिए सांख्य दर्शन में एक अन्य कल्पना की गई। इसके अनुसार पुरुष और प्रकृति में वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता, वस्तुतः पुरुष का सानिध्यमात्र ही प्रकृति की साम्यावस्था को भंग कर देता है जिससे विकास की प्रक्रिया की साम्यावस्था को भंग कर देता है जिससे विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। किन्तु इस कल्पना में भी संयोगजन्य कठिनाई यथावत बनी रहती है, क्योंकि पुरुष की निष्क्रियता के कारण उसका प्रकृति से सानिध्य निरन्तर बना रहता है, फलस्वरूप विकास निरन्तर बना रहता है, फलस्वरूप विकास

चलता रहता है। प्रलय के अभाव में, जो गुणों की साम्यावस्था है वह भी असिद्ध होगी। सांख्य इस कठिनाई का अनुभव करके दोनों में 'संयोगभास' का प्रतिपादन करता है। सांख्यदर्शन द्वारा प्रतिपादन इस संयोगभास में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, बुद्धि प्रकृति का प्रथम विकार है सृष्टि के पूर्व उसका अभाव था अतः पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में किस प्रकार पड़ेगा? इसके समाधान में यह तर्क दिया गया कि पुरुष का प्रतिबिम्ब स्वतः प्रकृति का प्रथम विकास है सृष्टि के पूर्व उसका अभाव था अतः पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में किस प्रकार पड़ेगा? इसके समाधान में यह तर्क दिया गया कि पुरुष का प्रतिबिम्ब स्वतः प्रकृति में पड़ता है जिसका कि पूर्व में खण्डन हो चुका है। यदि ऐसा होगा तो प्रलय असम्भव होगी व गुणों की साम्यावस्था भी बाधित होगी। पुनः पुरुष को मोक्ष भी नहीं प्राप्त होगा। यदि संयोगभास से सृष्टि मानी जाएगी तो सृष्टि भी आभास मात्र होगी। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध का उद्देश्य भोग और मोक्ष दोनों में किसी को नहीं कहा जा सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि सांख्य द्वैत के सम्बन्ध को पूर्णतः सिद्ध करने में असफल रहा है! वस्तुतः सांख्यदर्शन को पूर्णतः सिद्ध करने में असफल रहा है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में अन्तर्निहित तर्क उसे अद्वैतवाद की ओर प्रेरित कर रहा है, किन्तु सांख्य द्वैतवाद को ही सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है, इस समस्या का एक ही समाधान दिखलाई पड़ता है कि यदि सांख्य प्रकृति और पुरुष को दो तत्त्व न मानकर एक ही तत्त्व के दो रूप मान लेता तो इस प्रकार की कठिनाई सांख्य के सामने उपस्थित नहीं होती।

किन्तु सांख्य के द्वैतवाद को पूर्णतः नकारा भी नहीं जा सकता। डॉ० राधाकृष्णन

महोदय<sup>1</sup> का भी विचार है सांख्य अद्वैत विषयक आदर्शवाद के सत्य की ऊँचाई तक नहीं उठता, बल्कि केवल बोध के उस स्तर तक रहने में ही सन्तुष्ट है जो सत् और असत् के भेद पर बल देता है और दोनों के विरोध को यथार्थ तथा तादात्म्य को अयथार्थ मानता है। इसने जो प्रश्न उठाए हैं उनके अन्दर क्या क्या निहित है इसे यह अनुभव नहीं कर सका। उन प्रश्नों की कठिनाई तथा महत्त्व को युग-युग के विरोध तथा विवाद प्रकाश में लाते रहे हैं किन्तु बहुत कम सन्तोषप्रद समाधान तक पहुँच सके हैं तो भी विश्व के सम्बन्ध में एक सर्वतोप्राप्ति विचार तक पहुँचना, जिसमें न तो यथार्थसत्ता के किसी अंश का दमन किया गया है और न ही उसे खण्डित किया गया है, मानव मष्तिष्क का एक महान प्रयास है।

---

<sup>1</sup> डॉ० राधाकृष्णन, भारतीयदर्शन, भाग-2, पृ० 287.

## सप्तम अध्याय

### बन्धन और कैवल्य

7.1 बन्धन के कारण

7.2 कैवल्य का स्वरूप

भारतीय दर्शन के विषय में यह ध्रुव सत्य है कि उनका सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य व्यक्ति के सभी लौकिक व्यवहारों तथा उसके कारणों बन्धन रूप बताने के साथ-साथ उससे छूटने के उपायों को बताना है। बन्धन और मोक्ष की समस्या भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्या है। इसमें तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा का विकास मोक्ष के साधन के रूप में हुआ है। सांख्य दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। सांसारिक जीवन आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से भरा है। वास्तव में यह बन्धन अविवेक तथा दुःख के बीच की कड़ी है। अर्थात् अविवेक से बन्धन उत्पन्न होता है। जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा है— “विपर्ययादिष्यते बन्धः।” तथा इस बन्धन से दुःख का सृजन होता है। इस प्रकार अविवेक, बन्धन तथा दुःख यहाँ पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर का कारण है।<sup>1</sup>

आधा प्रसाद मिश्र<sup>2</sup> अन्य भारतीय दर्शनों में अविवेक व दुःखादि की चर्चा करते हुए कहते हैं—बौद्ध दर्शन के चार आर्यसत्त्यों में प्रथम तो दुःख तथा दुःख समुदय है। सभी व्यवहार दुःखस्वरूप हैं, उस दुःख का कारण भी वर्तमान है। क्रमशः प्रथम व द्वितीय सत्य में कहा गया है। यह कारण द्वादशांगभव चक्र का चलना है। इस चक्र में सबसे प्रमुख अविद्या है जो अविवेक के अनुरूप है। इसी प्रकार आस्तिक दर्शनों में से न्याय के सूत्र में मिथ्या ज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःख यहाँ पहले पहले वालों को बाद वालों का कारण बताया है। न्यायसूत्र 1-1-2 के अनुसार—‘दुःख जन्म प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञाननामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

<sup>1</sup> आधाप्रसादमिश्र, सांख्यदर्शनपर्यालोचन, पृ० 215.

<sup>2</sup> आधाप्रसादमिश्र, सांख्यदर्शन पर्यालोचन, पृ० 216



इसमें स्पष्ट रूप से सबके कारण के रूप में मिथ्या, ज्ञान अर्थात् अविवेक तथा इन सबके अन्तिम फल के रूप में दुःख को प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार योग में भी अनागत दुःख को हेय बताया गया है।<sup>1</sup> इस दुःख का कारण पुरुष एवं प्रकृति के संयोग को बताया गया है।<sup>2</sup> अन्त में इसका भी कारण अविद्या को ही बताया गया है।<sup>3</sup> इस प्रकार प्रायः सभी दर्शनों में ही दुःख तथा उसके कारणों की चर्चा हुई है। तथा इन दुःखों से छूटने के उपाय भी बताये गए हैं।

सांख्य दर्शन तो दुःखों के वर्णन से ही प्रारंभ होता है। सांख्यसूत्र के अनुसार<sup>4</sup>, दुःख त्रिविध हैं—आध्यात्मिक (शरीर तथा मन में जात व्याधि आदि), आधिदैविक (अग्निवायु आदि देवों के अधीन शीत—उष्ण वर्षा—भूकंप आदि बाह्य जड़ पदार्थों से उत्पन्न) एवं आधिभौतिक (चेतन प्राणी अर्थात् व्याघ्र, चोर आदि से कृत)। इस त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति सभी दुःखों का पुनः न होना ही अत्यन्त पुरुषार्थ' अर्थात् सर्वोच्च अभीष्ट स्थिति है। इस प्रकार इस प्रथम सूत्र में त्रिविध दुःखों का उल्लेख न इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही सर्वोच्च स्थिति कहा गया है। मोक्ष या मुक्ति का तात्पर्य है—'छुटकारा'। नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त आत्मा का जड़ प्रकृति के साथ जो आवास्तविक तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वही पुरुष का बन्धन है। सत्यता का भान होने पर पुरुष स्वरूप में स्थित हो

<sup>1</sup> हेयं दुःखमनागताम, योगसूत्र 2/16.

<sup>2</sup> दृष्टदृश्ययोः संयोगोहेयहेतुः। योगसूत्र 2/16

<sup>3</sup> तस्यहेतुरविद्या। योगसूत्र, 2/28.

(उद्धृत आधा प्रसाद मिश्र, सांख्यदर्शन पर्यालोचन) पृ० 216

<sup>4</sup> अथत्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः सांख्यसूत्र, 1/1.

जाता है और प्रकृति को अपना स्वरूप समझने की भूल नहीं करता। वस्तुतः पुरुष न कर्त्ता है, न भोक्ता किन्तु अनादि अविद्यावश प्रकृतिकृत कार्यों को स्वकृत समझता रहता है।<sup>1</sup> 'न पुरुषः कर्त्ता, न भोक्ता किन्तु महत्तत्त्व प्रतिबिम्बत्वात् कर्तृत्वाभिमानः यथा शुक पक्षीयोगाद् बन्धमाप्नोति'। शुक, गुण अर्थात् रस्सी के योग से बन्धन को प्राप्त होता है तथैव पुरुष भी गुण अर्थात् प्राकृतिक गुणों के योग से बन्धन को प्राप्त होता है। पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में सांख्यकारिकाकार के अनुसार पुरुष चेतन, अविषय, साक्षी, अपरिणामी एवं अकर्त्ता है।<sup>2</sup> सांख्यसूत्र के अनुसार<sup>3</sup> अहंकार (अभिमान वृत्तिक अन्तःकरण) ही कर्त्ता है अभिमान के बाद प्रायः प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः निर्गुण पुरुष नहीं है। इस प्रकार पुरुष का अकर्तृत्व सिद्ध होता है। श्रुति एवं पुराणों में भी पुरुष का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व अवास्तविक कहा गया है। प्रकृति को ही प्रसवधर्मी एवं विकारी स्वीकार किया गया है—प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।<sup>4</sup> महाभारत<sup>5</sup> में प्रकृति को सर्वत्र क्रियाशीलता एवं परिणामी माना गया है। सांख्यकारिका<sup>6</sup> के अनुसार बन्ध और मोक्ष पुरुष में नहीं होता। पुरुष निर्विकार असंग एवं कूटस्थ है। वह न बंधता है, न मुक्त होता है और न संसरण ही करता है। बन्ध और मोक्ष वस्तुतः प्रकृति का ही होता है, वह अपने को अनेक रूपों देव मनुष्य और तिर्यक योनि का आश्रय लेकर बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियादि

<sup>1</sup> अकर्तुरपि फलोपभोगऽन्नाद्यवत्, सांख्यसूत्र, 1/105

<sup>2</sup> कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, सांख्यकारिका, 19 का उत्तरार्द्ध।

<sup>3</sup> अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः सांख्यसूत्र, 6/54.

<sup>4</sup> श्रीमद्भगवद्गीता, 13/26.

<sup>5</sup> महाभारत, 12/292/40.

<sup>6</sup> तस्मान्न बध्यते मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः— सांख्यकारिका-62.

रूप से बांधती है, मुक्त होती है और संसरण करती है।

7.1 : सभी प्रकार के बंधनों का कारण अविद्या अथवा अविवेक है। सांख्य में सबसे बड़ी अविद्या प्रकृति पुरुष का विवेक न होना है। प्रकृति तथा पुरुष के गुण एवं कार्य पूर्ण रूपेण भिन्न है, पुनरपि अविद्यावश उनको एक दूसरे के स्थान पर समझ लिया जाता है। समस्त सांसारिक पुरुषों का और बुद्धि का परस्पर अनादि सम्बन्ध है। सृष्टि के प्रारंभ में एक-एक पुरुष के साथ एक एक बुद्धि जुड़ जाती है। अगल तत्त्वों की सृष्टि में प्रत्येक पुरुष के साथ समस्त अन्तःकरण और बाह्यकरण तथा पाँचों सूक्ष्म विषय जुड़ जाते हैं। ये सभी मिलकर एक सूक्ष्मशरीर बन जाता है जिसे लिंग शरीर कहते हैं। एक-एक पुरुष के साथ एक-एक लिंग शरीर चिपका रहता है। वस्तुतः पुरुष अपने स्वभाव से तटस्थ, उदासीन और असम्बद्ध ही होता है।

बुद्धि तथा लिंगशरीर और वस्तुएँ हैं और पुरुष और वस्तु है। दोनों वस्तुतः परस्पर असम्बद्ध हैं। परन्तु दोनों के बीच में एक अनादि अविवेक विद्यमान रहता है। विवेक विविक्तता अर्थात् सर्वथा पृथक्ता को सिद्ध करता है। परन्तु अविवेक उससे उल्टा कार्य करता हुआ इन दो को परस्पर सम्बद्ध रूप में प्रकट कर देता है। इस तरह से अनादि अविवेक के कारण एक-एक सांसारिक पुरुष एक-एक लिंग शरीर के साथ जुड़ा ही रहता है। उनके इस प्रकार के परस्पर सम्बद्ध के कारण उनका परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। बुद्धि जिस तरह से विषय के प्रतिबिम्ब को धारण करती है, उसी तरह से पुरुष के प्रतिबिम्ब को भी धारण कर ही लेती है। उसका फल यह होता है कि बुद्धि के सुख-दुख आदि स्वभावों का सम्बन्ध पुरुष के साथ और पुरुष के चैतन्य का सम्बन्ध बुद्धि के साथ

हो जाता है। जिस तरह से दर्पण में जब मुख का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, तो मुख के कान, नाक आंख, रूप आकार आदि धर्म दर्पण के स्वभाव जैसे प्रतीत होते हैं और दर्पण यदि लाल या पीला या सांवला आदि हो तो प्रतिबिम्बित मुख में भी वह-वह वर्ण दीखने लग जाता है। इसी तरह से बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष वस्तुतः उदासीन और तटस्थ होता हुआ भी सुखी, दुखी आदि प्रतीत हो जाता है। और बुद्धि जड़ होती हुई भी चेतन जैसी आभासित हो जाती है। ऐसा हो चुकने पर वह चेतन की तरह सारे कार्य करती रहती है। यदि इन दो के ऊपर परस्पर अविवेक का प्रभाव नहीं होता, तो बुद्धि पुरुष के परिणामों को प्रकट ही नहीं करती और वही लिंग शरीर बनकर उससे चिपकी ही रहती। परन्तु अनादि अविवेक के कारण वह पुरुष से चिपकी रहती है और पुरुष भी साक्षी बनता हुआ उसके परिणामों को देखता रहता है।

सांख्यकारिकाकार<sup>1</sup> कहते हैं कि प्रकृति अपने को सप्तरूपों अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य आदि से बांधती है और अपने को एकरूप अर्थात् ज्ञान से मुक्त करती है।

अज्ञानादि बुद्धि के अष्टभाव या धर्मों का विवेचन इस प्रकार है—अज्ञान, यह प्रकृति का प्रथम विकास बुद्धि के अष्टधर्मों में परिगणित है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इसे बन्धन का कारण माना है। यह बुद्धि का तामसिक रूप है—अविद्या च मिथ्याज्ञानरूपा बुद्धिधर्मा इति योगसूत्रिता।<sup>2</sup> योगसूत्र में अज्ञान की व्याख्या इस

<sup>1</sup> रूपैः सप्तभिरेवतु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।

सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥

—ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका—63.

<sup>2</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्यप्रवचन भाष्य, 1/69.

प्रकार की गई है—‘अनित्याऽशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्यख्यातिरविद्या।’<sup>1</sup> आद्या प्रसाद मिश्र<sup>2</sup> अविद्या की व्याख्या करते हुए कहते हैं, यह अविद्या अनादि है। अर्थात् इसे किसी व्यक्ति विशेष समय में उत्पन्न या प्रारम्भ नहीं किया गया है। अपितु यह अनादि काल से चली आ रही है। इस अविद्या से अनेकों प्रकार के बन्धन तथा उससे असंख्यों प्रकार के अनुभव तथा कार्य निर्मित होते हैं। ये अनुभव विभिन्न प्रकार की वासनाओं तथा जन्म-मरण बन्ध के लिए उत्तरदायी है। इन सभी का सम्मिलित परिणाम दुःख होता है। साथ ही इन सबसे नई अविद्याएँ तथा परिपक्व अविद्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार यह चक्र सदा चलता रहता है। किसी चक्र के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि कौन प्रारंभ में है क्योंकि चक्र में प्रारंभ की आशा करना व्यर्थ है, अपितु इसलिए कि वह सबसे प्रधान है। सभी दार्शनिकों ने इसे चक्र के रूप में ही स्वीकार किया है। आगे आद्या प्रसाद जी अविद्या को बौद्ध दर्शन के न्याय दर्शन के अनुसार बताते हैं कि बौद्धों में द्वादशांग भवचक्र के अन्तर्गत तो इसे स्पष्ट ही चक्र स्वीकार किया है। वहाँ भी यद्यपि अविद्या से ही प्रारंभ किया है। तथापि चक्र होने के कारण प्रत्येक के प्रारंभ से माना जा सकता है, न्याय में भी दुःख, जन्म, प्रवृत्ति इत्यादि का क्रम बताते हुए इसे चक्र ही स्वीकार किया है।<sup>3</sup> योग में भी क्लेश रूपी मूल से जाति, अर्थात् जन्म अर्थात् जीवनविधि तथा भोग के उत्पन्न होने की बात कही गई है।<sup>4</sup>

यह भी चक्र है — क्योंकि उस भोग से पुनः नवीन तथा परिपक्व क्लेश तैयार

<sup>1</sup> पातंजल, योगसूत्र, 2/5.

<sup>2</sup> आद्या प्रसाद मिश्र, सांख्य दर्शन पर्यालोचन, पृ० 223.

<sup>3</sup> न्यायसूत्र, 1/2.

<sup>4</sup> पातंजल, योगसूत्र, 21-22.

होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है सभी अन्य सभी को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है। अविद्या के पंचभेद इस प्रकार हैं—अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष व अभिनिवेश। अज्ञान या अविवेक के कारण ही पुरुष—प्रकृति से आत्मभेद नहीं कर पाता और प्रकृति के साथ इस प्रकार का संसर्ग या तादात्म्यभाव स्थापित कर लेता है कि प्रकृति को वह अपना ही स्वरूप समझने लगता है। पाप पुण्यादि कर्मों को करने से उस कर्म के संस्कार बनते हैं। तत्पश्चात् विपाकानुभूति और फिर उसके संस्कार वासनारूप से बुद्धि में अवस्थित रहते हैं। कर्म एवं संस्कारों का अनवरत चक्र चलता रहता है, जब तक कि उसके कारणभूत अज्ञान का नाश न हो जाए। विज्ञानभिक्षु<sup>1</sup> अज्ञान को प्रकृति पुरुष संयोग का मुख्य हेतु कहते हैं। अविवेक या अज्ञान वस्तुतः पुरुष संयोग का मुख्य हेतु कहते हैं। अविवेक या अज्ञान वस्तुतः पुरुष का धर्म नहीं है किन्तु यह बुद्धि के साथ तादात्म्य स्थापित करे उसके धर्म का अपने ऊपर आरोपण कर लेता है। पुरुष का बुद्धि के साथ संयोग या सम्बन्ध अनादि है किन्तु अनन्त नहीं, क्योंकि अविवेक का नाश हो जाने पर कर्मादि संस्कार भी क्षीण हो जाते हैं जिस प्रकार जले हुए बीज अंकुरोत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार विवेकज्ञान की अग्नि में समस्त कर्म एवं उनके संस्कार पुनः पुनः जन्मायु आदि फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। न्यायसूत्रकार ने कहा है कि मिथ्याज्ञान ही समस्त कष्टों एवं दुःखों का मूल है। अज्ञान के कारण होने वाला बन्धन तीन प्रकार का कहा गया है—“विपर्ययात्” अतत्त्वज्ञानात् “इष्यते बन्धः”। स च त्रिविधः प्राकृतो

<sup>1</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य, 1/55,

वैकृतिको दाक्षिणिकश्चेति।<sup>1</sup> यह बन्धन प्राकृतिक, वैकारिक व दाक्षिणिक के नाम से अभिहित किया गया है।

प्राकृतिक बन्ध उनका होता है, जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हुए उसकी उपासना करते हैं वे प्राकृतिक बन्ध की स्थिति में पहुँच जाते हैं। विवेकज्ञान से रहित होने के कारण पूर्णमुक्त कभी नहीं हो सकते, किन्तु सौ सहस्र मनवन्तर पर्यन्त प्रकृति लीन नामक देवताओं की स्थिति में रहते हैं—पूर्ण शतसहस्रं हि तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।<sup>2</sup>

वैकारिक बन्ध वह है जब कोई व्यक्ति भूतों (पृथ्वी आदि) इन्द्रियों, अहंकार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति की विकृतियों की ही पुरुष भाव से उपासना करते हैं उन्हीं के विषय में कहा गया है—दशमन्वन्तरणीह तिष्ठन्तीन्द्रिय चिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्ण सहस्रं त्वाभिमानिकाः।<sup>3</sup> अर्थात् इन्द्रियों के उपासक स्थूल शरीर का पान होने पर दस सहस्र मन्वन्तरों तक दुःखत्रय से रहित होकर उन उन तत्त्वों में लीन होकर स्थित रहते हैं जिनको वैकारिक बन्धन प्राप्त होता है वे विदेह कहलाते हैं।

इष्ट और अपूर्ण अर्थात् यज्ञ तथा वापी कूपादि का निर्माण करने से दाक्षिणिक बन्धन प्राप्त होता है। यह बन्धन सांसारिक बन्धनों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार अज्ञान बन्धनकारक है—विपर्ययादिष्यते बन्धः। आद्या प्रसाद मिश्र के अनुसार, पुनरपि बन्धन तो है ही यज्ञादि के करने पर भी लोभ, मोहादि विकार वर्तमान रहते ही हैं

<sup>1</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, सांख्य तत्त्वकौमुदी, 44वीं कारिका.

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र, सांख्य तत्त्वकौमुदी, 44वीं कारिका

<sup>3</sup> आद्या प्रसाद मिश्र, सांख्य दर्शन पर्यालोचन, पृ० 223-224.

जबकि मोक्ष के लिए इनका पूर्वनाश होना आवश्यक है। अतः ये सभी बन्ध कहे गये हैं। इस प्रकार अविद्या बुद्धि से भेदाभेद रूप से सम्बन्धित है सांख्यकारिका तथा सांख्यसूत्र में इस अविद्या के अतिरिक्त अन्य सात रूप भी गिनाए गए हैं।

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में इसके सात्त्विक रूप हैं। अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, और अनैश्वर्य ये तामस रूप हैं। इन आठों रूपों में ज्ञान को छोड़कर सभी का अनुष्ठान अज्ञान के बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी के मूल में अज्ञान है जो बुद्धि के विभिन्न रूपों को रखता है।

धर्म बुद्धि का सात्त्विक रूप है और 'अधर्म' तामसिक। तत्त्वकौमुदीकार के मत में धर्म वह है जो लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस्) का कारण है। आचार्य गौड़पाद दया, दान यम और नियमादि को धर्म मानते हैं।<sup>1</sup> यज्ञानादि के सम्पादन से उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का कारण बनता है और अष्टांगयोग के साधन से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस् अर्थात् कैवल्य का कारण होता है—तत्र याग दानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः अष्टांगयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयस हेतुः।<sup>2</sup> आचार्य माठर धर्म शब्द को इस प्रकार परिभाषित करते हैं— धारणार्थो धृजित्येष धातुः शब्दैः प्रकीर्तितः। दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते।<sup>3</sup> आचार्य माठर पंचनियम एवं पंचयम को भी धर्म कहते हैं। धर्म से ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति होती है तथा अधर्म से अधोलोक सुतलादि में गति प्राप्त होती है। कर्मोपार्जित कोई भी फल नित्य नहीं है क्योंकि वह अशुद्धि क्षय एवं न्यूनाधिक दोष से युक्त है।

<sup>1</sup> आचार्य गौड़पाद भाष्य, सांख्यकारिका 23 पर.

<sup>2</sup> आचार्य वाचस्पतिमिश्र, सांख्यतत्त्व कौमुदी कारिका-23.

<sup>3</sup> आचार्य माठर, माठरवृत्ति, सांख्यकारिका-23.



श्रीमद्भागवद्गीता में कहा गया है— 'क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। मोक्ष क्षयातिषय से रहित एवं नित्य अवस्था है मोक्ष प्राप्ति हेतु मन को निष्काम होना आवश्यक है। यज्ञादि अनुष्ठान में किसी न किसी प्रकार की कामना निहित होती है इसीलिए धर्म, पुण्य के लिए होते हुए भी जीव को बांधता है। नरकादि अनिष्ट के साधनभूत कर्म, निषिद्ध, कर्म हैं और शास्त्रनिषिद्ध कर्म अधर्म की श्रेणी में आते हैं।<sup>1</sup> पाप पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मों के कर्माशय बनते हैं ये कर्म संस्कार वे बीज हैं जो जीव को कर्मजाल के चक्र में बांधते हैं।

'ऐश्वर्य' भी बुद्धि का सात्त्विक धर्म है ऐश्वर्य के स्वरूप के विषय में सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों का मतैक्य है। सुवर्ण सप्ततिकार ने अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति ईशित्व, प्राकाम्य, वशित्व और याथाकामावसायित्व के भेद से अष्टविध ऐश्वर्य के अतिरिक्त गरिमा का भी उल्लेख किया है। इन अष्टविध ऐश्वर्यों का वर्णन इस प्रकार है—'अणिमा' वह है जिसमें योगी अणुरूप हो जाता है। 'लघिमा' वह है जिसमें योगी अत्यन्त लघु या हल्का हो जाता है। 'महिमा' वह है जिसमें योगी महान हो जाता है। 'प्राप्ति' में योगी अंगुली के अग्रभाग से ही चन्द्रमा को छू लेता है 'प्राकाम्य' इच्छा की निर्बाध पूर्ति है, जिसमें योगी भूमि के अन्दर वैसे ही तैरता है और डूबता है जैसे साधारण व्यक्ति जल में। 'वशित्व' में योगी का भूतों और भौतिक पदार्थों के ऊपर अधिकार हो जाता है वह स्वयं किसी के अधीन नहीं रहता। ईशित्व वह ऐश्वर्य है जिसमें योगी उन भूतों और भौतिक पदार्थों के

<sup>1</sup> धर्मेण गगनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्तमधर्मेण

—ईश्वरकृष्णसांख्यकारिका 44 का पूर्वार्द्ध।

उत्पादन विनाश एवं स्थापना के विषय में समर्थ होता है। 'यत्रकामावसायित्व' अर्थात् सत्य संकल्प का होना जिसे योगी का जैसा संकल्प होता है, वैसी ही भूतों की प्रकृतियों की व्यवस्था होती है। समर्थ होने पर भी योगी पदार्थों को उल्टा नहीं करता।

'अनैश्वर्य' ऐश्वर्य के विपरीत होता है, और यह बुद्धि का तामस् रूप है। अष्टविध ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेने पर भी योगी यदि प्रकृति-पुरुष विवेक ज्ञान से रहित है तो उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं होता। ये सब प्रकृति के ही कार्य हैं इसलिए इनके प्रति वैराग्य होना आवश्यक है। चूंकि ये ऐश्वर्य मोक्षदायक नहीं हैं इसलिए ये भी पुरुष को बांधते हैं। ऐश्वर्य प्राप्त कर लेने वाला योगी पुनः जन्म लेता है, क्योंकि बन्धन के कारण अविवेक नष्ट नहीं होता।

'वैराग्य' ऐहिक और पारलौकिक विषयों के प्रति होने वाली उदासीनता है। योगसूत्र<sup>1</sup> में वर्णित है, स्त्री अन्न, पान और प्रभुता इन ऐहिक विषयों के प्रति निःस्पृह होना तथा स्वर्ग, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व लाभरूपी पारलौकिक विषयों के प्रति उदासीनता रखना अपर वैराग्य है। विवेक ख्याति के अनन्तर पुरुष दर्शन के अभ्यास से तृप्त चित्त वाला होकर साधक चित्त की सात्त्विक वृत्ति के प्रति भी विरक्त हो जाता है, इसी को 'परवैराग्य' कहते हैं। इस प्रकार परवैराग्य विवेक ज्ञान के प्रति होने वाली उदासीनता है क्योंकि यह प्रकृति के सत्त्वगुण का कार्य है। यह ज्ञान का चरमोत्कर्ष है। सुवर्णसप्ततिकार वैराग्य को बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध मानते हैं। धन के अर्जन, रक्षण एवं क्षय के प्रति उपेक्षाभाव रखना बाह्य

<sup>1</sup> पातजल योगसूत्र, 1/15.

वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य पुरुष तथा प्रकृति के भेद ज्ञान से उत्पन्न वैराग्य है। माठरवृत्ति तथा गौड़पादभाष्य में वैराग्य का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है। युक्तिदीपिका एवं तत्त्वकौमुदी में राग अर्थात् असक्ति के अभाव को वैराग्य कहा गया है। इसकी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और 'वशीकार' चार संज्ञाएँ मानी गई हैं। इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए रागादि कषायों के परिपाक अर्थात् शमन के लिए किए गए प्रयत्न यतमान संज्ञक वैराग्य हैं। कषायों के शमन के लिए प्रयत्न करने पर कुछ कषाय शान्त हो जाते हैं और कुछ रह जाते हैं। उनके शमन के लिए किए गए अनुष्ठान व्यतिरेक संज्ञक, वैराग्य हैं। भोजन, पान आदि लौकिक और स्वर्गीय वेदोक्त विषयों के उपस्थित होने पर भी उत्सुकता न होना अर्थात् उनके प्रति उपेक्षा शुद्धि का होना वशीकार संज्ञक वैराग्य है।

अवैराग्य है वैराग्य का अभाव, राग अर्थात् आसक्ति है। जब वैराग्य जीव के बन्धन का हेतु है, तो अवैराग्य निश्चित ही जीव के लिए बन्धनकारक है। जब तक विवेक ख्याति एवं उनसे मिलने वाली सिद्धियों के प्रति वैराग्य नहीं होता तब तक जीव को मुक्ति नहीं मिल पाती। अतः तब तक प्रकृति, पुरुष को बांधे रखती है। इसलिए वैराग्य को भी बन्धनकारक कहा गया है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि पर वैराग्य मोक्षदायक है, क्योंकि इस वैराग्य को प्राप्त करके योगी के समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं। और वह संसारचक्र के आवागमन से मुक्त हो जाता है। पर वैराग्य के होने पर कैवल्य भी निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

सांख्यमत में त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरुष के विवेक या भेद का साक्षात्कार ही ज्ञान है—गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्। 'ज्ञान' बुद्धि का ही परिणाम विशेष है।

बुद्धि स्वयं प्रकृति का कार्य है। इसलिए कहा गया है पुरुष का कैवल्य प्रकृति के बिना सम्पादित नहीं हो सकता बुद्धि के अष्टभावों में 'ज्ञान' पुरुष को मोक्ष या कैवल्य प्रदान करने वाला है। ज्ञान बुद्धिनिष्ठ है या कैवल्य प्रदान करने वाला है। पुरुष अपने और प्रकृति में भेदज्ञान प्राप्त करके प्रकृति से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करता बल्कि वह स्वरूप में स्थित हो जाता है। ज्ञान चूँकि बुद्धि का कार्य है इसलिए पुरुष इसके प्रति भी विरक्त हो जाता है। ऐसे पुरुष के लिए प्रकृति पुनः अपने कार्यों को नहीं प्रकट करती। भोग और मोक्ष दोनों के ही सम्पन्न हो जाने पर उस पुरुष के प्रति किस कारण से प्रकृति अपने परिणाम को उत्पन्न करे। अतः प्रकृति व्यापार शून्य हो जाती है और पुरुष प्रकृति के प्रति उदासीन हो जाता है। सांख्यकारिका में भी वर्णित है—दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्यु परमत्यन्या। सति संयोगेऽपितयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।<sup>1</sup>

सांख्यकारिका एवं सांख्यसूत्र में क्रियाशीला एवं परिणामिनी प्रकृति का इस प्रकार वर्णन है जिससे प्रकृति ही बन्धमोक्ष को सम्पादन करने वाली प्रतीत होती है।<sup>2</sup> निर्विकार पुरुष का भोग एवं मोक्ष बुद्धि द्वारा सम्पादित होता है। पुरुष जब बुद्धिनिष्ठ ज्ञान को अपनाता है अर्थात् अपना समझता है। तभी सुखी या दुःख होता है यही पुरुष का बन्धन है। वह त्रिविध दुःख से त्रस्त होकर अपने चित्त को शुद्ध करता है। तदनन्तर कठिन अभ्यास एवं प्रयत्न के द्वारा अपने और प्रकृति के भेद

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 66.

<sup>2</sup> 1. पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाशय विनिर्वर्तते प्रकृतिः।

—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका—59.

2. तसमान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।

—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका—62.

3. 'प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्टकुंकुमवहनवत्'। —सांख्यसूत्र, 3/58.

को जानकर प्रकृति से अपने को पृथक् कर स्वरूप होता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा ही पुरुष का भोग एवं मोक्ष सम्पादित होता है।<sup>1</sup> पिछले पृष्ठों में प्रतिबिम्ब के विषय में संक्षिप्त विवेचन हो चुका है, यहाँ प्रतिबिम्बवाद के विषय में विज्ञानभिक्षु के विचार प्रस्तुत हैं—उनके अनुसार पुरुष का अनुमान 'भोक्तृभावात्' के आधार पर किया जाता है अतः योग को वे पुरुषनिष्ठ स्वीकार करते हैं, चाहे यह बुद्धि द्वारा ही सम्पादित होता हो। इनके अनुसार बुद्धि में ही अभिहित पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे बुद्धि पुरुषवत् चेतन हो जाती है। बुद्धि में पड़ा हुआ पुरुष प्रतिबिम्ब उस ज्ञान को ग्रहण नहीं करता बल्कि समीपस्थ पुरुषतत्त्व में इस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब पुरुष उस ज्ञान का बोद्धा एवं अभिमन्ता बनता है। प्रतिबिम्बवाद के द्वारा निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—भोग एवं अपवर्ग पुरुष में आरोपित होते हैं। उसका भोक्तृत्व पारमार्थिक नहीं है। पुरुष अज्ञान या अविवेक के कारण ही प्रकृति कृत कार्यों का अभिमान करता है। वस्तुतः वह न कर्ता है न भोक्ता। निष्क्रिय एवं कूटस्थ आत्मतत्त्व में किसी प्रकार का कुछ न जुड़ सकता है न घट सकता है। भोग का अर्थ है अभ्यवहरण अर्थात् आत्मसातकरण। भोग की गति बुद्धि के माध्यम से चेतन तक है। बुद्धिवृत्ति को उस भोग का लाभ नहीं मिलता क्योंकि वह जड़ है।<sup>2</sup> 'अपरिणामी पुरुष' द्वारा विषय भोग का प्रतिबिम्बदानमात्र अर्थात् प्रतिबिम्ब का ग्रहण न लेना मात्र ही भोग है।

<sup>1</sup> सर्वप्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।

सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥

—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका, 36.

<sup>2</sup> सांख्यसूत्र, 6/55, 'चिदवसाना भुक्तिस्ततकर्माजितत्वात्।

अविद्या या अज्ञान की अन्य प्रकार से वर्गीकरण सांख्यकारिका तथा सांख्यसूत्र में साधकों के लाभ के निमित्त के लिए समझाया गया है। ये भेद इस प्रकार हैं—विपर्यय, अशक्ति तुष्टि तथा सिद्धि। इनका विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय में किया जा चुका है, किन्तु संक्षिप्त रूपेण नामोल्लेख यहाँ द्रष्टव्य है।

विपर्यय के तमस, मोह, महामोह, तमिस्र तथा अन्धतमिस्र नामक पाँच भेद हैं, इन सबके भी पुनः अवान्तर भेद हैं— तमस् और मोह के आठ-आठ महामोह के दस तथा तमिस्र और अन्धतमिस्र के अट्ठारह-अट्ठारह भेद हैं। इस प्रकार यह पंचप्रकार का विपर्यय सूक्ष्म भेदों के कारण बासठ प्रकार का होता है। 'अशक्ति' नामक बुद्धि के कुल अट्ठाइस भेद हैं। तुष्टि के कुल नौ भेद हैं— प्रकृति बाह्य, उपादान काल, भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तथा विषयों से वैराग्य उत्पन्न होने के कारण पांच बाह्य तुष्टियाँ। अष्ट प्रकार की सिद्धियाँ इस प्रकार हैं—ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःख विनाश, सुहृत्प्राप्ति तथा दान। इस प्रकार सम्पूर्ण बन्धनों की कारणभूता अविद्या की व्याख्या यहाँ पर कर दी गई, जिसकी निवृत्ति को ही मोक्ष कहा जाता है।

7.2 : सांख्य और योगदर्शन में मोक्ष या अपवर्ग के लिए 'कैवल्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। कैवल्य शब्द सांख्य की मुक्ति सम्बन्धी धारणा का ज्ञापक है। पुरुष का बन्धन अविद्यावश प्राकृतिक धर्मों को अपने धर्मों के रूप में स्वीकार करने से होता है। अज्ञान अथवा अविद्या का विवेचन किया जा चुका है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है, यह निवृत्ति अज्ञान की निवृत्ति से ही सम्भव है। जब सांख्यशास्त्र के अध्ययन और अनुभूति से पुरुष अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर

प्रकृति से अपनी भिन्नता जान लेता है, अर्थात् विवेक ख्याति<sup>1</sup> प्राप्त कर लेता है तब वह 'केवली' हो जाता है। यही मोक्ष है, आद्या प्रसाद मिश्र<sup>1</sup> के अनुसार इस अज्ञान को निवृत्त करने के लिए साधक को धीरे-धीरे अभ्यास करना होता है। इनका कथन है कि सर्वप्रथम स्थूलरूप अज्ञानों की निवृत्ति की आवश्यकता होती है। अपने से जगत् के पदार्थों के साथ सम्बन्धों की निवृत्ति करते हुए यह भावना दृढ़ करनी होती है कि मैं उनसे विविक्त या पृथक् हो गया हूँ। तत्पश्चात् शरीर, इन्द्रियादि के प्रति आत्मत्व बुद्धि का ग्रहण करना होता है। ऐसा होने पर धीरे-धीरे अहंकार तथा ममकार की भावनाएं शान्त होने लगती हैं। उनके शान्त होते ही बुद्धि की वृत्तियों पर भी नियन्त्रण होने लग जाता है। ये वृत्तियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तथा अपेक्षाकृत बहुत कम हो जाती है। धीरे-धीरे अधिकाधिक अभ्यास तथा साधना करने पर यह प्रक्रिया विस्तृत हो जाती है। अन्त में बुद्धि वृत्ति के अत्यधिक शान्त तथा शुद्ध होने पर बुद्धि में प्रकृति पुरुष विवेक की वृत्ति बनती है। यह बुद्धि की सर्वोत्कृष्ट वृत्ति है। इसमें पुरुष की दृष्टि प्रकृति से अपने को सर्वथा अलग देखने की होती है। इस वृत्ति के उदित होने पर सभी दुःखों का तिरोधान या नाश होने लगता है, क्योंकि सभी दुःख अज्ञानमूलक वृत्तियों पर आधारित हैं।

मोक्ष या मुक्ति पुरुष की स्वाभाविक एवं नित्यावस्था है। मोक्ष शाश्वत एकरस रागद्वेषादि सभी लौकिक भावों से परे, (जैसा कि पूर्व में उल्लिखित हो चुका है) त्रिविध दुःखों से शून्यावस्था है।<sup>2</sup> मोक्ष में पुरुष को किसी स्थान विशेष में गमन

<sup>1</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्यदर्शन पर्यालोचन, पृ० 231-232.

<sup>2</sup> त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः, सांख्यसूत्र, 1/1.

नहीं करना होता है। देवयान या पितृयान मार्ग से ब्रह्मलोक या स्वर्गलोक को प्राप्ति करना मोक्ष नहीं है। कारण यह है कि आत्मा निष्क्रिय है उसमें किसी भी प्रकार गतिसंभव नहीं है।<sup>1</sup> मोक्ष की अवस्था में आत्मा का उच्छेद नहीं होता।<sup>2</sup> मोक्ष ही पुरुषार्थ है, यदि मोक्ष में आत्म-नाश होता तो कोई भी मोक्ष के लिए प्रवृत्त नहीं होता। आत्मा सत्-चित् स्वरूप है। आत्मा की सत्ता आत्मस्वरूप की प्राप्ति मोक्ष है इसलिए मोक्ष शून्यता की स्थिति नहीं है, जैसा कि नास्तिकों द्वारा प्रतिपादित है।<sup>3</sup> प्रकृष्ट धन, प्रकृष्ट स्त्री आदि का स्वामित्व प्राप्त कर लेना भी मोक्षावस्था नहीं है, क्योंकि ये सब विनाशी हैं, मोक्ष तो अविनाशी एवं नित्यावस्था है।<sup>4</sup> जीवरूप अंश का परमात्मा रूपी अंशी में लय हो जाना भी मोक्ष नहीं है।<sup>5</sup> वैष्णवों ने मुक्ति की दशा में आत्मरूपी अंश का परमात्मा रूपी अंशी में विलय को मोक्ष कहा है। यह सांख्यमत में युक्त नहीं है, क्योंकि संयोग सदा ही वियोगान्त होता है।<sup>6</sup> अर्थात् आत्मा का पुनः अपने अंशी से अलगाव नहीं हो सकता है। निरवयव आत्मतत्त्व में अंश-अंशी भाव नहीं माना जा सकता है। सावयव तत्त्व कभी भी नित्य नहीं हो सकता। अवयवों के नाश एवं उत्पत्ति की प्रक्रिया जगत् के पदार्थों में देखी जा सकती है। आत्मा में न कोई नया तत्त्व जुड़ सकता है, न उससे कोई तत्त्व अलग हो सकता है, क्योंकि वह पूर्ण है, निरवयव निर्विकार एवं कूटस्थ है। आत्मा व्यापक है उसका सभी से सम्बन्ध सदा, सर्वदा ही बना रहता है। यदि परमात्मा को स्वीकार

<sup>1</sup> 'न विशेष गतिर्निष्क्रियस्य', सांख्यसूत्र, 5/76.

<sup>2</sup> न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात्, सांख्यसूत्र, 5/78.

<sup>3</sup> सांख्यसूत्र, 5/79.

<sup>4</sup> संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि, सांख्यसूत्र, 5/80.

<sup>5</sup> सांख्यसूत्र, 5/81 में यह उल्लेख है कि वैष्णवों का यह मत है।

<sup>6</sup> आचार्य विज्ञानभिक्षु, सांख्यप्रवचन, 5/81.



भी कर लें तो भी विभु आत्मतत्त्व का परमात्मा से सदैव ही सम्बन्ध बना रहता है। परमात्मा निरवयव ही होगा और उस निरवयव परमात्मा में अंश अंशी भाव नहीं माना जा सकता, सांख्य पुरुष बहुत्व को मानता है।<sup>1</sup> सांख्यसूत्र में 'पुरुष बहुत्वं व्यवस्थातः' कहा गया है। श्रुतिप्रदिपादित बन्ध मोक्ष की व्यवस्था देखकर पुरुष का अनेकत्व सिद्ध होता है। उसी पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है, अन्य पुरुष बद्ध ही रहते हैं। यदि पुरुष एक ही होता तो एक पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाने पर सभी पुरुषों को तत्त्वज्ञान हो जाता। सांख्य का यह विशिष्ट मत वेदान्त से भिन्न है।

मुक्ति की दशा में आत्म तत्त्व का अस्तित्व बना रहता है उसका किसी भी अन्य तत्त्व में लय नहीं होता। योग द्वारा अनेक सिद्धियों की प्राप्ति करके योगी महान कार्यों को करने में समर्थ हो जाता है, किन्तु इन सिद्धियों एवं विभूतियों की प्राप्ति मोक्ष नहीं है। इनकी प्रयत्न द्वारा प्राप्ति होती है अतः उनका नाश या उच्छेद निश्चित है। ये निरंतर नहीं बने रहते।<sup>2</sup>

पुरुषार्थ से रहित बुद्धि आदि का प्रविलय अपने मूल कारण अव्यक्त प्रधान में हो जाता है। उस पुरुष का बुद्धि आदि गुणों से सम्बन्ध नहीं रह जाता। भविष्य में पुनः सम्बन्ध की संभावना की भी निवृत्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। पुरुष को होने वाला भोग एवं मोक्ष प्रकृति द्वारा ही सम्पादित होता है किन्तु यही सन्निहित पुरुष में उपचारित किया जाता है। वस्तुतः 'कैवल्य' पुरुष सन्निहित गुणों का ही होता है। 'कैवल्य' शब्द का अर्थ है

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 18.

<sup>2</sup> नाणिमादियोगोऽप्यवश्यं भवित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत्, सांख्यसूत्र, 5/82.

केवलता, अकेलापन या प्रवृत्ति के साथ पुरुष का अलगाव होना। गुणों का बन्धन और मोक्ष निम्नलिखित कारिका द्वारा कहा गया है—तस्मान्न बद्धतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते नानाश्रयाप्रकृतिः।<sup>1</sup> विवेक ज्ञान हो जाने पर प्रकृति, पुरुष के समक्ष एक लज्जालु स्त्री की भांति पुनः उपस्थित नहीं होती। अथवा जैसे नर्तकी रंगस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य के लिए एक बार उपस्थित होने के बाद पुनः नृत्य नहीं करती उसी प्रकार प्रकृति, पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर उसके विषय में प्रवृत्त नहीं होती।<sup>2</sup> प्रकृति गुणवती एवं उपकारिणी है। उसकी प्रवृत्ति अपने लिए नहीं होती बल्कि पुरुष के लिए होती है।<sup>3</sup> तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने पर प्रकृति उस पुरुष के प्रति निवृत्त हो जाती है। इन सभी कारिकाओं द्वारा यही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि बन्धन या मोक्ष प्रकृति का होता है। प्रकृति विवेकख्याति पर्यन्त ही शब्दादि भोग क्यों उत्पन्न करती है? इसका उत्तर यह है कि भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं। जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अंकुर नहीं होता—करोतु नाम पौनः पुन्येन शब्दाद्युपभोगं प्रकृतिर्यथा विवेकख्यातिर्न कृता, कृतविवेक ख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगं न जनयति।<sup>4</sup> पुरुष की दृष्टि से कैवल्य—तत्त्वज्ञान के अनन्तर अवसिताधिकार वाले चित्त का अपने कारणभूत अव्यक्त या प्रकृति में लय हो जाने पर निर्गुण पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह पुरुष का बुद्धि से

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 62

<sup>2</sup> रंगस्यदर्शयित्वानिवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिर्वर्तते। प्रकृतिः।  
—ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका 59.

<sup>3</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 60

<sup>4</sup> आचार्य वाचस्पतिमिश्र, तत्त्वकौमुदी, कारिका, 66

अलगाव है या गुणों के साथ पुरुष के संयोग का अभाव है। पुरुष की दृष्टि से कैवल्य की व्याख्या सांख्यकारिकाकार करते हैं— एवं तत्त्वाभ्यासान्नस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्ध कैवल्यमुत्पद्यते ज्ञानम्।<sup>1</sup> अर्थात् तत्त्वज्ञान के अभ्यास से पुरुष कर्तृत्व भोक्तृत्वादि के अभिमान से मुक्त हो जाता है। उसे यह विवेक हो जाता है कि सुखादि मेरे नहीं हैं। मैं नित्य, शुद्ध बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप हूँ। सुख-दुःखादि तो प्रकृति के धर्म हैं। इस प्रकार एक बार विवेक ज्ञान हो जाने पर पुरुष धर्म-अधर्मादि बुद्धि के सप्त रूपों से फिर मोहित नहीं होता। वह एक प्रेक्षक की भांति तटस्थ भाव से जगत् को देखता है—‘प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः’।<sup>2</sup> निष्क्रिय एवं स्वच्छ का अभिप्राय है—राजस् और तामस् वृत्तियों से मलिन हुई बुद्धि के सम्पर्क से रहित होना क्योंकि सात्त्विक बुद्धि से थोड़ा-थोड़ा सम्पर्क तो उस अवस्था में भी बना रहता है, अन्यथा इस रूप में प्रकृति का दर्शन ही असंभव हो जाएगा।

जिस प्रकार किसी स्फटिक पर किसी ‘जपा’ इत्यादि पुष्प का उपराग पड़ने पर, वह स्फटिक भी उसी रंग के पुष्प वाला प्रतीत होता है वास्तव में वह भ्रान्त प्रत्यय है। उसी प्रकार पुरुष कदापि प्रकृति के विकारों वाला नहीं होता। पुनरपि उसे भ्रांति से वैसा समझ लिया जाता है। यद्यपि पुष्प का उपराग पड़ने पर स्फटिक में कुछ परिवर्तन अवश्य होता है उसमें एक विशेष प्रकार की लालिमा आ जाती है। जो कि पहले नहीं थी। यदि उसमें इस प्रकार का यत् किञ्चित् परिवर्तन न हो तो

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 64

<sup>2</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 65

उसे फूलवाला समझने की भ्रांति भी न हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि उसमें भ्रान्ति के लिए कोई परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है ठीक इसी प्रकार बन्ध-दशा में पुरुष में यदि कोई भी परिवर्तन न हो तो उसके विकारी होने की भ्रांति ही कैसे होगी। इससे प्रतीत होता है कि उसमें परिवर्तन अवश्य होता है। पर इस दशा में उसकी अपरिणामिता तथा नित्य शुद्धि आदि विशेषणों पर आघात पहुँचता है। जब प्रकृति-पुरुष संयोग होने पर पुरुष में परिवर्तन होता है तो वह पुरुष नित्य शुद्ध कैसे हो सकता है? इसके उत्तर के लिए पुनः स्फटिक के दृष्टान्त को देखना पड़ेगा। वहाँ पर स्फटिक पुरुष से उपरक्त होने पर भी स्वच्छ बना रहता है। क्योंकि स्वच्छता का अर्थ किसी के प्रतिबिम्ब को अपने में आत्मसात् करने का सामर्थ्य रखना है। यह सामर्थ्य उस स्फटिक में पुरुष के उपराग से पूर्व तथा बाद में भी वर्तमान रहता है। अतः वह स्फटिक दोनों दशाओं में शुद्ध ही कहा जाएगा। इसी प्रकार यद्यपि पुरुष प्रत्येक दशा में विकारों को आत्मसात् करने का सामर्थ्य रखता है, तथापि वह पूर्णरूपेण अपरिणामित ही रहता है। इसलिए वह शुद्ध ही कहा जाएगा।<sup>1</sup>

सांख्यकारिका तथा सांख्यसूत्र के समान योगसूत्र में भी कैवल्य 'कैवल्य' का निरूपण हुआ है। योगसूत्र<sup>2</sup> 4/34, (कैवल्यपाद के अन्तिम) सूत्र में कैवल्य का सर्वांगपूर्ण वर्णन किया गया है। यह वर्णन दो दृष्टियों से किया गया है—गुणों की दृष्टि से तथा पुरुष की दृष्टि से। गुणों की दृष्टि से यह बताया गया कि,

<sup>1</sup> आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्यदर्शन, पर्यालोचन, पृ० 232-233

<sup>2</sup> पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूपं प्रतिष्ठा वा चितिः शक्तिः। (कैवल्यपाद योगसूत्र, 434) उद्धृत आद्याप्रसाद मिश्र सांख्यवर्ग-पर्यालोचन पृ० 242

भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ से रहित गुणों के प्रतिलोम परिणाम के द्वारा अव्यक्त प्रधान में विलीन हो जाना ही कैवल्य है। पुरुष की दृष्टि से, उसका स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही कैवल्य है जिससे स्फटिक में पुष्प का उपराग न पड़ने पर वह स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसमें प्रत्येक प्रकार की उपचर्यमाण उपाधि क्षीण हो जाती है। इसी प्रकार पुरुष की दृष्टि से भी बुद्धिवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाली प्रत्येक उपाधि का क्षीण होना ही उसका कैवल्य है।

सम्पूर्ण विशुद्ध ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर संचित धर्म-अधर्म कर्मों का बीज भाव नष्ट हो जाता है परन्तु प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कार भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं। अतः उनके सामर्थ्य से साधक, जो अब सिद्ध हो चुका है, वैसे ही शरीर धारण किए रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक चलना बन्द कर देती है, वैसे ही अवशिष्ट प्रारब्ध संस्कार के क्षीण हो जाने पर शरीर भी व्यापार करना बन्द कर देता है अर्थात् नष्ट हो जाता है।<sup>1</sup> अनुभावात्मक या साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने से लेकर शरीर नष्ट होने तक के बीच की स्थिति 'जीवन्मुक्ति' कहलाती है, एवं शरीर नष्ट होने के बाद की निरवधि नित्य स्थिति 'विदेहमुक्ति'। यही कैवल्य या अपवर्ग भी है। वेदान्त दर्शन मोक्ष की अवस्था को आनन्दमय मानता है। कैवल्य की अवस्था में यद्यपि सांख्याचार्य द्रष्टृत्व अथवा चेतना की स्थिति स्वीकार करते हैं तथापि आनन्द का अभाव मानने के कारण उनके मोक्ष का स्वरूप वेदान्त से भिन्न है। सांख्यशास्त्र के अनुसार 'आनन्द' तो सत्त्वगुण का धर्म है। त्रिविध दुःखों के आत्यन्तिक उच्छेद के लिए इसे आनन्द से भी रहित होना

<sup>1</sup> ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 67-68

चाहिए अन्यथा आनन्द के जनक सत्त्वगुण के अभिभूत होने पर पुनः दुःखादि का उद्भव होगा। वेदान्त की मुक्ति भावात्मक है और सांख्य की अभावात्मक है। जहाँ कोई दुःख नहीं है वहाँ कोई सुख भी नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों सापेक्ष और अविच्छेद्य हैं।

मोक्ष की अवस्था को आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति रूप मानने में सांख्य न्याय दर्शन के समीप है, किन्तु दोनों दर्शनों में भेद भी पर्याप्त है। जहाँ न्याय की मुक्ति चेतनाहीन शिला के समान जड़वत् है वहाँ सांख्य में कैवल्य की अवस्था में पुरुष अपनी स्वाभाविक चेतना में स्थित होकर एक द्रष्टा के समान प्रकृति को देखता रहता है। सांख्य और न्याय की मोक्ष अवधारणा में यह एक महत्वपूर्ण भेद है।

सांख्य ने बन्धन और मोक्ष को व्यावहारिक माना है। सांख्य के अनुसार बन्धन और मोक्ष की प्रतीतियाँ होती हैं, पुरुष बन्धनग्रस्त नहीं है, क्योंकि वह तो मुक्त है, पुरुष को बन्धन होने का भ्रम हो जाता है। यदि व्यावहारिक जीवन और आत्मा सत्य है तथा आत्मा का संघर्ष यथार्थ है तब बन्धन मोक्ष और मोक्ष का विचार भी यथार्थ होना चाहिए परन्तु सांख्य ने बन्धन और मोक्ष को यथार्थ न मानकर विरोध उपस्थित किया है।

सांख्यानुसार प्रकृति ही बन्धनग्रस्त होती है, एवम् प्रकृति को ही मोक्षानुभूति भी होती है, विकास प्रकृति का बन्धन है और प्रलय प्रकृति का मोक्ष है, किन्तु इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि मोक्ष की अनुभूति तो किसी चेतन सत्ता द्वारा ही किया जा सकता है। अतः प्रकृति को मोक्षानुभूति उचित प्रतीत नहीं होती।

सांख्यदर्शन में संसार के दुःखों की अत्यधिक महत्ता दी गई है। विश्व तीन

प्रकार के दुःखों से व्याप्त है। कुछ आलोचकों ने सांख्यदर्शन को निराशावादी कहा है। परन्तु इस आक्षेप के विरुद्ध में यह कहा जा सकता है कि सांख्य को निराशावादी कहना भ्रामक है। बुद्ध की तरह सांख्य सिर्फ संसार को दुःखमय बताकर ही नहीं मौन होता है बल्कि दुःखों के निवारण का उपाय ढूँढने का प्रयास भी करता है।<sup>1</sup>

---

<sup>1</sup> डॉ० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रुपरेखा।

उपसंहार



इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अज्ञात के प्रति कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा प्रत्येक प्राणी की सहज प्रवृत्ति है। प्राकृतिक जगत् के विकास के प्रथम चरण के रूप में जिज्ञासा का उदय होता है। जीवन की आरम्भिक आवश्यकताएँ अपनी सृष्टि के लिए प्रत्येक प्राणी को व्यवहार के लिए प्रवृत्त करती हैं। इसलिए अपने व्यवहार में आने वाली सृष्टि, और इसकी प्रक्रिया के विषय में जानना चाहता है। सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर जब चिंतनशील मनुष्य ने खोजा तो वे ही दर्शन के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुए। सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किए गये हैं सांख्य दर्शन के सृष्टि सम्बन्धी विचार उनमें से अति महत्त्वपूर्ण हैं।

वस्तुतः इस जागतिक जिज्ञासा की निवृत्ति की दिशा में भारतीय संस्कृति में एक समृद्ध परंपरा रही है। वेद इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस सृष्टि के कारण का अन्वेषण करते हुए ऋग्वेद के नासदायसूक्त में कहा गया है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। एवं न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीद आसीद प्रकेतः। अर्थात् सृष्टि के पूर्व की स्थिति का वर्णन करना असम्भव है क्योंकि उस समय न सत् था, न असत् था। न प्रकाश था और न अन्धकार, न मृत्यु थी न ही अमरत्व। उस समय दिन और रात्रि का भेद भी नहीं था। सब कुछ तम से आच्छादित था। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त सृष्टि सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओं की शान्ति का भरसक प्रयत्न करता है। वैदिक संहिताओं में सांख्य शब्द का साक्षात् उल्लेख न भी हुआ हो किन्तु उसके पुरुष प्रकृति सिद्धान्त का असपष्ट उल्लेख अवश्य हुआ है। प्राचीन उपनिषदों में सांख्यदर्शन के बीज मिलते हैं। श्रीमद् भगवद्गीता महाभारत पुराण आदि में सांख्य सिद्धान्त एवं आचार्य कपिल के

गुण गाये गये हैं। अतः सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन काल से ही अपने सृष्टि सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करने के लिए जाना जाता है।

प्रकृति ही सृष्टि का मूल है। अभिनवतया प्रकट होने वाली जो वस्तु जिस मूल वस्तु के शरीर में विकार आने से ही प्रकट हो जाए, वह अभिनव वस्तु उस मूल वस्तु की विकृति होती है। उस विकृति रूप वस्तु की अपेक्षा से मूल वस्तु को उस विकृति की प्रकृति कहा जाता है। समस्त जगत् के भीतर अनन्त प्रकृतियाँ और अनन्त विकृतियाँ हैं परन्तु समस्त संसार जिस एक मात्र-वस्तु की विकृति है, वह मूल प्रकृति ही है। वह किसी अन्य तत्त्व की विकृति नहीं। सत्कार्यवाद सिद्धान्त प्रकृति की स्थापना करने में सफल है। नैयायिकों का मत है कि परमाणु ही सत्य है, जगत् तो सृष्टि के पहले था ही नहीं। सृष्टि के समय ईश्वर ने परमाणुओं से इसका निर्माण किया, अतः जगत् पहले नहीं था। अर्थात् जो जगत् पहले असत् था। उसी का निर्माण ईश्वर ने किया और उसे सत् बना दिया। नैयायिकों के इस असत्कार्यवाद का सांख्य खण्डन करता है। सृष्टि के समय प्रकृति में से वे ही संसार प्रकट हो जाता है, जो उसमें पहले से ही विद्यमान था। उस समय कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। संहार के समय सारा जगत् पुनः प्रकृति के भीतर समाकर अदृश्य हो जाता है तो उत्पत्ति वस्तुतः कोई अभिनव निर्माण न होकर एकमात्र अभिनव अभिव्यक्ति ही होती है, और संहार सर्वथा विनाश न होता हुआ एक मात्र अभिव्यक्त हो जाना होता है। अतः जगत् तीनों कालों में सत्य है। वस्तुएं तभी प्रकट या व्यक्त हो जाती हैं, जब अन्तःकरण और बाह्यकरण परस्पर मिलजुल कर कार्य करें और उन्हें व्यक्त कर दें तो जिस अवस्था में सभी करण मूल-प्रकृति के भीतर विलीन होकर स्वयं अव्यक्त हो जायें, उस अवस्था की अभिव्यक्ति कैसे हो सके। तो उसकी सत्ता को अनुमान के द्वारा या शास्त्र वाक्यों के आधार पर ही ठहराया

जा सकता है। प्रकृति को मानों यह इच्छा होती है कि मैं इनके लिए कर्मों के फलों का भोग प्राप्त करने का प्रबन्ध करूँ। इसलिए वह अपने स्वरूप में परिणाम लाकर जगत् की सृष्टि के प्रति प्रवृत्त हो जाया करती है। वह बद्धपुरुषों को विवेक ज्ञान प्राप्त करा के उन्हें बन्धन मुक्त करती है। फलतः वह अपने स्वरूप में परिवर्तन लाती हुई स्वयमेव समस्त तत्त्वों, समस्त भुवनों और समस्त भोग्य भावों तथा भोगायतन शरीरों के सृष्टि-संहार करती रहती है। प्रकृति का लक्ष्य प्रत्येक पुरुष को मुक्ति की दशा तक पहुँचाना है। पुरुषों की संख्या अनन्त है। अतः प्रकृति की इस परिणाम लीला का कोई अन्त नहीं, पुरुष प्रकृति के लिए कुछ नहीं करता वह केवल उसके परिणामों का दर्शन मात्र करता है। इतनी परिणाम-लीला के चलते रहने पर ही पुरुषों को भोग और मोक्ष मिलते रहते हैं। उसी से प्रकृति कृत-कृत्य होती रहती है और सदैव होती ही रहेगी।

त्रिगुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है सृष्टि प्रक्रिया में इन त्रिगुणों का ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। सत्त्व गुण प्रकृति की प्रकाशशीलता होती है जिससे ज्ञान का व्यवहार चलता है। रजोगुण उसकी चंचलता या प्रवृत्तिशीलता होती है जिससे सृष्टिसंहार आदि होते हैं और सारे का सारा क्रिया-व्यवहार चलता है। तमोगुण उसकी शिथिलता मन्दता आवरण आदि विशेषताएँ होती हैं। उससे प्रवृत्ति में तथा ज्ञान और क्रिया में जरा शिथिलता के आ जाने से उनमें स्थिति अर्थात् ठहराव आ जाता है। इनकी विशेषता यह है कि ये परस्पर सहयोग के द्वारा ही पुरुषार्थ को सिद्ध करते हुए प्रकृति के औत्सुक्य को शान्त करते रहते हैं। इस व्यक्त दशा में किसी वस्तु में कोई एक गुण प्रधानतया चमक उठता है तो शेष दो गुण अप्रधान होकर और उसके अधीन होकर उसे सहयोग देते हुए उसे सफल बनाते रहते हैं। गुणों में

इस प्रकार की विषमता के आधार पर व्यक्त संसार का सारे का सारा व्यवहार चलता रहता है।

सृष्टि प्रक्रिया में प्रत्यक्षतः शामिल न होकर भी 'पुरुष' ही वह तत्त्व है जिसके लिए प्रकृति अपनी अव्यक्तावस्था को छोड़कर व्यक्तावस्था की ओर बढ़ती है। पुरुष के अस्तित्व पर ही प्रकृति का भी आधार टिका है। सांख्य में आत्मा को 'पुरुष' नाम दिया। 'पुरुष' केवल नाम से ही पृथक् नहीं है, वरन् उसका स्वरूप भी अन्य दर्शनों में वर्णित 'आत्मा' से भिन्न है। यह चेतन तथा अपरिवर्तनशील तत्त्व है। अन्य दर्शन आत्मा को चेतन तो मानते हैं किन्तु वे उसके साथ गुण को सम्मिलित कर देते हैं जबकि सांख्य का पुरुष गुण रहित है। इससे उसमें परिवर्तन सम्भव ही नहीं। प्रकृति द्वारा सृष्टि रूपी नाटक पुरुष के लिये किया जाता है तथा उद्देश्य सिद्धि के पश्चात् प्रकृति द्वारा नाटक का पटाक्षेप हो जाता है। अतः पुरुष ही इस सृष्टि का केन्द्र है।

सृष्टि रचना में विकासवाद का प्रतिपादन करके सांख्य ने अलौकिक धर्म की नींव में ही कुठाराघात किया किया है। इसके अनुसार यह सृष्टि किसी ईश्वर का कार्य नहीं है जिसने अपने चमत्कार से इसको उत्पन्न किया है। यह सृष्टि असंख्य आत्माओं तथा सदैव कर्मशील, प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम है। विकासवाद की प्रक्रिया को आरंभ करने के लिए प्रकृति पुरुष का परस्पर सहयोग अपेक्षित है किन्तु इसी सहयोग पर आचार्य शंकर (वेदान्ती) तथा अन्य पूर्वपक्षियों ने कड़ा प्रहार किया है। वस्तुतः सृष्टि प्रक्रिया के आरंभ होने के कारण को ही सांख्य दर्शन तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पाता। एक तरफ सांख्यदर्शन सृष्टि प्रक्रिया पर एक नवीन विचार प्रस्तुत करता है कि सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती वरन् अव्यक्त प्रकृति में सूक्ष्मरूप से पूर्व विद्यमान कार्यों का क्रमशः विकास होता है।

वहीं यह विकास व्यक्तिगत मानसिक अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। अनेक आक्षेपों, आशंकाओं के बाद भी सृष्टि प्रक्रिया में तत्त्वों के उद्भव का निरूपण जो सांख्य में किया गया है अतीव उत्तम है तथा सांख्य नाम की सार्थकता को सिद्ध करता है। वेदान्त का तत्त्व निरूपण और न्याय वैशेषिक का पदार्थ निरूपण इतना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, जितना कि सांख्यशास्त्र का। वर्तमान भौतिक विज्ञान के अनुसार भी परमाणु किसी शक्ति विशेष के परिणाम के रूप में प्रमाणित किए गए हैं। तदनुसार वैज्ञानिक प्रक्रिया से यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि विद्युत-शक्ति का परिणाम परमाणुओं में और परमाणुओं का उल्टा परिणाम विद्युत शक्ति में हुआ करता है उस महाविद्युत शक्ति को ही सांख्यशास्त्र की मूल प्रकृति कहा जा सकता है। परन्तु चेतना शक्ति के स्रोत की खोज भौतिकी विद्या अभी तक नहीं कर पायी है। सांख्य के आचार्यों ने योग बल से उस शक्ति का भी अनुभव किया है, और उसे पुरुष-तत्त्व के रूप में ठहराया है।

वस्तुतः सृष्टि, वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी एक अबूझ पहेली ही है। कोई भी सिद्धान्त सत्य तक नहीं पहुँच सका है, तो हजारों वर्ष पूर्व में सांख्याचार्यों के मत को जगत् की सृष्टि प्रक्रिया से सम्बन्धित जिज्ञासा की पूर्णतः शान्ति की अपेक्षा करना उचित नहीं है।

अविवेक के कारण पुरुष को जो बुद्धि के विविध कर्मों का उपभोग होता है वह अन्ततोगत्वा दुःखमय ही होता है। अविवेक के कारण पुरुष को लिंग देह के अनन्त जन्मों में जन्म जरा, व्याधि, विरह, दारिद्र्य तृष्णा, असन्तोष, मृत्यु आदि के दुःखों का उपभोग करना पड़ता है। प्रकृति पुरुष की तरह ही लिंग शरीर और कर्मों का जाल भी अनादि ही है। अतः यह संसार भी अनादि है। और इस संसार में लिंग शरीर की संसृति अर्थात् बार बार अनेक योनियों में मरते और जन्मते रहने की परम्परा भी अनादि ही है। लिंग शरीर के सम्बन्ध में

संसृति में फँसकर रहते हुए आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधिभौतिक दुःखों का भोग करते रहना महादुःख है। यही बन्धन है। यह सारा बन्धन वस्तुतः बुद्धि का परिणाम है, परन्तु अविवेक के कारण यह पुरुष का धर्म सा बन गया है। और इसका भोग पुरुष को ही करना पड़ता है। विवेकख्याति के संस्कार के पक्का हो चुकने पर पूर्वोक्त प्रकार से जब शरीर भेद के अनन्तर प्रकृति और पुरुष का वह बनावटी सम्बन्ध का प्रपञ्च विलीन हो जाता है। इस प्रकार इस आडम्बर से बुद्धि ही मुक्त होती है। पुरुष तो कभी बंधता ही नहीं उसे बन्धन का भ्रम होता है। प्रकृति ही बंधती है वही मुक्त होती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन वेदान्त आदि दर्शनों से विशिष्ट प्रकार का आत्मा की मुक्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। वह मुक्ति में आनन्द को आवश्यक नहीं मानता क्योंकि आनन्द इत्यादि भाव तो सत्त्व, रजस् तथा तमस् आदि गुणों के कारण ही होते हैं। पुरुष तो इन गुणों से अलग है।

सांख्य दर्शन दुःख की ही महत्ता पर बल देता है तथा इन दुःखों की निवृत्ति ही कैवल्य है। मनुष्य चाहे विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने की चेष्टा कर रहा हो किन्तु वह इन दुःखों से मुक्त नहीं है। दुःख निवृत्ति ही सर्वोच्च स्थिति है। अतः सांख्य द्वारा प्रतिपादित 'कैवल्य' आज भी प्रासंगिक है तथा मुमुक्षुओं के लिए यह उचित मार्ग कहा जा सकता है।

---

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण	सम्पा० जीवनदास विद्यासागर भट्टाचार्य कलकत्ता सरस्वती यन्त्र
अहिर्बुध्न्यसहिता	नाग पब्लिशर्स देहली
उपनिषत्संग्रह	सम्पा० जे० एल० शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
ऋग्वेद सहिता	वैदिक सशोधन मंडल, तिलक मैमोरियल, पूना
कठोपनिषद्	अनु० डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा
कूर्म पुराण	वेदव्यास, अनु० तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
गौडपादकारिका भाष्य	गीताप्रेस गोरखपुर
छान्दोग्य उपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
तत्त्वयाथार्थदीपनम्	भावागणेश (साख्यसंग्रह), चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
देवीभागवतपुराण	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली
न्यायसूत्र	आचार्य गौतम चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
पद्म महापुराणम्	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली
प्रश्नोपनिषद् (शाङ्करभाष्य)	गीताप्रेस, गोरखपुर
ब्रह्मवैवर्त पुराण	अनु० एव सम्पा० तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद



ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य)	:	अनु० श्री सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्द मठ, टेढीनाम, वाराणसी
ब्रह्मसूत्र	.	बादरायण, अनु० श्री सुधीरगोपाल मुखोपाध्याय, भारतीय प्रेस, इलाहाबाद
बृहदारण्यक उपनिषद्	:	गीता प्रेस, गोरखपुर
वाल्मीकि रामायण	:	सतिलक टीका, सम्पा० खेमराज श्रीकृष्ण दास, मुम्बई
भामती भाष्य	:	वाचस्पति मिश्र, सम्पा० पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई
भागवत पुराण	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य)	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
महाभारत	.	गीताप्रेस, गोरखपुर
मत्स्य पुराण	:	सम्पा० खेमराज श्रीकृष्णदास, दिल्ली
मनुस्मृति (भाषा टीका सहित)	:	सम्पा० रामेश्वर भट्ट, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान
मुण्डकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य)	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
माण्डूक्योपनिषद् (शाङ्करभाष्य)	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
मैत्रायणी उपनिषद्	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
माण्डूक्यकारिका (माण्डूक्योप— निषद् तथा शाङ्करभाष्य)	:	गौडपाद, गीताप्रेस, गोरखपुर
माठरवृत्ति	:	बुटाला एण्ड कपनी, दिल्ली

याज्ञवल्क्यस्मृति	:	व्याख्या, भीमसेन शर्मा, ब्रह्म प्रेस, इटावा
योगसिद्धि (पातंजलयोगदर्शनम्)	:	डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
योगवार्तिक (पातंजलयोगदर्शनम्)	:	विज्ञानभिक्षु, भारतीय प्रकाशन, वाराणसी
वायु पुराणम् (हिन्दी अनुवाद सहितम्)	:	अनु० रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
विष्णु पुराण	:	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली
वेदान्तसार	:	रामानुजाचार्य, सदानन्द, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना
वेदान्त परिभाषा	:	चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
वेदान्तसारः	:	सदानन्द, व्याख्या प्रो० राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
वैशेषिकसूत्र	:	महर्षि कणाद, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
शतपथ ब्राह्मण	:	सम्पा० सत्यव्रत शर्मा, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता
श्वेताश्वतरोपनिषद् (भाष्य)	:	शंकराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर
षड्दर्शन समुच्चय	:	हरिभद्रसूरि, सम्पा० दामोदर स्वामी, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस
स्कन्दपुराणम्	:	सम्पा० खेमराज श्रीकृष्णदास, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली

सांख्यसूत्र (सांख्यप्रवचनभाष्य)	:	विज्ञानभिक्षु, सम्पा० रमाशकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
सांख्यप्रवचन भाष्य		आचार्य विज्ञानभिक्षु, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता
सांख्यसार	:	आचार्य भिक्षु, सम्पा० रामचन्द्र भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
सांख्यकारिका (सांख्यतत्त्वकौमुदी सहित)	:	ईश्वर कृष्ण, सम्पा० रामकृष्ण, साहित्य भण्डार, मेरठ
सांख्यकारिका	:	आचार्य ईश्वरकृष्ण, डॉ० विमला कर्णाटक, चौखम्भा ओरियण्टल, वाराणसी
सांख्यतत्त्वकौमुदी	:	आचार्य वाचस्पति मिश्र, सांख्यकारिका टीका, सम्पा० आद्या प्रसाद मिश्र, हिन्दी अनुवाद सहित, इलाहाबाद
सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा	:	सांख्यतत्त्व कौमुदी पर टीका
सांख्य तत्त्वकौमुदी	:	चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
श्रीमद्भगवद्गीता (तत्त्व विवेचिनी टीका सहित)	:	सम्पा० जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर
श्रीमद्भागवत् महापुराणम्	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
अद्वैतवेदान्त	:	राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक साहित्य ।	:	डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव, किताब महल, इलाहाबाद
गीता रहस्य	:	लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, पूना
बृहदारण्यक एक समीक्षात्मक अध्ययन	:	डॉ० रघुवंश झा, किशोर विद्या निकेतन वाराणसी
भारतीय दर्शन	:	डॉ० राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
भारतीय दर्शन	:	दत्त तथा चटोपाध्याय, अनु० कन्हैया, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	:	एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	:	प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
भारतीय दर्शन	:	उमेश मिश्र, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ
भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा	:	डॉ० राममूर्ति पाठक, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद
भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन	:	सी० डी० शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन	:	डॉ० रामशरण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
वेदान्त दर्शन (द्वैताद्वैत सिद्धान्त)	:	श्रीसुधीर मुखोपाध्याय, प्रो० दौलतपुर कालेज द्वारा प्रकाशित

- सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक : डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन,  
परम्परा इलाहाबाद
- सांख्यदर्शन पर्यालोचन : डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, राष्ट्रिय संस्कृत  
संस्थानम्, नई दिल्ली
- सांख्य दर्शन का इतिहास : आचार्य उदयवीर शास्त्री, गाजियाबाद
- सांख्य दर्शन का द्वंद्वात्मक : डॉ० सत्यवती, लोकालोक प्रकाशन, 156,  
भौतिकवादी विश्लेषण श्यामपार्क, साहिबाबाद (गाजियाबाद)
- An Introduction of Indian : Satish Chandra, Chatterjee and Mohan  
Philosophy Dutta, University of Culcutta
- A Critical Survey of Indian : Dr. C. D. Sharma, Delhi  
Philosophy
- A History of Indian Literature : Prof. Winternitz, Oriental Books,  
New Delhi.
- Conatructive Survey of : R. D. Ranadey, Oriental Agency,  
Upnishads Poona
- Classical Samkhya ; an : Moti Lal Banarsidass, Delhi  
Interpreation of History &  
Meaning
- Evolution of Samkhya School : Dr. Arima Sen Gupta, Lucknow
- History of Indian Philosophy : Dr. S. N. Dass Gupta, Motilal Banarsidas  
Varansi (Translated in Hindi)

- Origin & Development of : P. B. Chakrawarti, Culcutta  
Samkhya system of thought
- Samkhya system : A. B. Keith. Association press,  
Culcutta (Translated in Hindi)
- Yuktidipika an ancient commentry : Edited by Ramchandra Pandey
- On the Samkhyakarika of : Motilal Banarsi Dass,  
Ishwarkrishna Varansi
-